THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178552
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83·1 / T 84 G Accession No. G.H. 2535

Author त्रिवेदी, का. ना. Pt. II

Title गल्पसंसार-माला : गुजराती / 1941

This book should be returned on or before the date last marked below.

गल्प-संसार-माला

भाग : २—गुजराती

: संपादक :

श्रीपतराय

: लेखक-गण :

रामनारायण विश्वनाथ पाठक
रसिकलाल छोटालाल परीख 'संजय'
कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
धनसुखलाल कृष्णलाल मेहता
लीलावती मुंशी
झवेरचंद कालिदास मेघाणी
'त्रिशूल'
रमणलाल वसन्तलाल देसाई
'धूमकेतु'
'स्नेहरश्मि'

: इस भाग के संपादक :

काशिनाथ नारायण त्रिवेदी

बनारस,
सरस्वती प्रेस।

तृतीय संस्करण, १६४१ ।
मूल्य ||) ।

: मुद्रक :
श्रीपतराय,
सरस्वती प्रेस,
बनारस ।

सूची

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी— साँवलशाह का ब्याह १५
[अनु०—काशिनाथ नारायण त्रिवेदी]

रामनारायण विश्वनाथ पाठक— खेमी १
[अनु०—काशिनाथ नारायण त्रिवेदी]

'धूमकेतु'— पोस्ट-आफिस ३०
[अनु०—प्रवासीलाल वर्मा मालवीय]

झवेरचन्द कालिदास मेघाणी— सुहिणी-मेहार ४१
[अनु०—काशिनाथ नारायण त्रिवेदी]

लीलावती मुंशी— पतन की एक करुण कथा ५९
[अनु०—महावीरप्रसाद दाधीच]

'स्नेहरश्मि'— माँझी-कन्या ८४
[अनु०—इन्द्र उमियाशंकर वसावड़ा]

रमणलाल वसन्तलाल देसाई— चचेरे भाई १०३
[अनु०—काशिनाथ नारायण त्रिवेदी]

धनसुखलाल कृष्णलाल मेहता— परिवर्तन ११४
[अनु०—काशिनाथ नारायण त्रिवेदी]

'त्रिशूल'— मिलन की रात १३५
[अनु०—काशिनाथ नारायण त्रिवेदी]

रसिकलाल छोटालाल परीख 'संजय'— शोभनकुमार १५०
[अनु०—काशिनाथ नारायण त्रिवेदी]

साँवलशाह का ब्याह

प्यारे पाठक ! कहानी का नाम पढ़कर यदि आप साहित्यिक कल्पना में मग्न हो जायँ, किसी महाकाव्य की आशा रखने लगें, कवि-रत्न श्री० नरसिंह मेहता के पुत्र का इतिहास सुनने को तत्पर हो जायँ, भक्ति का स्वाद लेकर भगवान् का नाम सुनने को उत्सुक हो उठें, तो कहता हूँ, मेरी इस कहानी को आप यहीं छोड़ दीजिये। मुझे विद्वानों में अपनी गिनती नहीं करानी है ; बेचारे दीन-दुःखी शब्दों का सत्यानाश नहीं करना है ; कवि बनकर उस अँधेरे में नहीं पहुँचना है, जहाँ

रवि की भी पहुँच नहीं है ; भक्त बनकर, स्वर्ग जाकर, तैंतीस करोड़ देवताओं को देखकर और रात-दिन उन्हें प्रणाम करके अपने पैर भी नहीं तोड़ने हैं। मुझे तो एक सीधी-सादी-सी बात कहनी है। बात कितनी ही सादी क्यों न हो, मगर श्रेष्ठता में किसी से कम नहीं है। क्या नरसिंह मेहता का पुत्र ही पुण्यात्मा है, और मेरा साँवलशाह पामर ? पतित ? कदापि नहीं। जानते नहीं, यह युग प्रजातंत्र का है—समानता का है। इसमें एक फटेहाल भिखारी भी अमीर के समान है। यह वह युग है, जिसमें शराब के नशे में चूर एक मज़दूर की विचार-शक्ति पर से 'ग्लैडस्टन' जैसों की योग्यता कूती जाती है ! तो फिर क्यों न मेरा साँवलशाह नरसिंह मेहता के पुत्र के बराबर हो ?

पिछले माघ में मैं बम्बई से अहमदाबाद जा रहा था। क्यों जा रहा था, सो न पूछिये। डिब्बे में मेरे साथ मेरे एक पुराने मित्र भी बैठे थे। बड़ी देर तक हम आपस में गपशप करते रहे, गिलौरियाँ चाबते रहे, नई-पुरानी बातें याद करके हँसते-हँसाते रहे। मेरे मित्र रूई की दलाली करते थे, इसलिए शान-शौकत में किसी से कम न थे। धीमे-धीमे गाड़ी एक स्टेशन के पास पहुँचने लगी ; उधर मेरे मित्र में जादू का-सा परिवर्तन होने लगा। बगुले के पंख-सी चौड़ी किनार की अहमदाबादी धोती, कलफ़दार अँगरखा, चुनटवाली उसकी बाँहें, ज़री किनार का दुपट्टा और कुसंभी पगड़ी, सब एक-एककर निकलने लगे, और गाँडाभाई—मेरे मित्र का नाम—की देह पर फबने लगे।

मैंने कहा—क्यों गाँडाभाई ! साँप जैसे केंचुल उतारता है, वैसे ही तुम भी...

'यही तो ; आज इस गाँव के सेठ साँवलशाह का व्याह है। मैं उनका अढ़तिया ठहरा। मेरे लिए यह सब लाज़िमी है। चलो भाई, तुम भी चलो।'

कौन मैं ?—मैंने अचकचाकर पूछा। भई, मैं तो तुम्हारे सेठ को पहचानता भी नहीं। आज पहली बार उनका नाम सुना है।

'तो हर्ज ही क्या है? सेठ ने सबसे कहा है—आप लोग अपने इष्ट-मित्रों के साथ अवश्य पधारिये। चलो तो; थोड़ा यह भी मजा देख लो। अहमदाबाद में ऐसा कौन ज़रूरी काम है?'

'नहीं, वैसे कोई ख़ास काम तो नहीं है; फिर भी बिना बुलाये किसी के घर जाना...

'वाह, इसमें अपने-पराये की क्या बात है? कौन दो-चार दिन का काम है। आज ही गोधूलि का मुहूर्त है। ब्याह देखकर सुबह लौट जाना।'

मैं सोच रहा था, यह 'गोधूलि का मुहूर्त' क्या है कि इतने में स्टेशन आ पहुँचा। स्टेशन पर गाँडाभाई की अगवानी के लिए लोग मौजूद थे।

'रणछोड़भाई चलो! तुम्हें मेरी कसम है। देखो, हमारे सेठ बुरा मान जायँगे।'—गाँडाभाई ने अनुरोध करते हुए कहा। आख़िर मुझे मंजूर करना पड़ा और बिना बुलाये साँवलशाह की शादी का आनन्द लूटने के लिए मैं वहीं उतर पड़ा।

असबाब उतारा गया और हम स्टेशन के बाहर आये। एक छोटी खुली गाड़ी की ओर इशारा करते हुए सेठ के आदमी ने कहा—यह गाड़ी आप ही के लिए है। हमने देखा, उस गाड़ी में चार सवारी पहले ही बैठी थी। दो हम थे और एक गड़ीवाला था। मैंने सोचा, गाड़ी के किस कोने में हम लोग बैठ जायँगे? आख़िर किसी तरह लद-लदाकर हम उस पर चढ़ ही बैठे। गाड़ीवान ने रास सँभाली, डण्डा उठाया और बैल की पूँछ मरोड़ते हुए उसे आशीर्वाद दिया—ये तेरा मालिक मरे! और गाड़ी हाँक दी। सुकुड़-मुकुड़ हम लोग बैठ तो गये; लेकिन जब गाड़ी चली और रास्ते की नई-नई खूबियाँ सामने आने

लगीं, तो हम अदबदाकर एक दूसरे की गोद में गिरने लगे और सिर पर पहनी हुई पागें नाक तक ऐसी खिसकने लगीं कि उन्हें सँभालना मुश्किल हो गया।

आखिर गाँव आया। और मेहमान-घर के सामने पहुँचकर हमारी गाड़ी खड़ी की गई। हमें वहाँ उतारकर गाड़ीवाला चला गया। जो साहब अगवानी के लिए आये थे, वे तो स्टेशन ही से गायब थे। हमने अपने दोनो हाथों से सामान उठाया और चारों ओर नज़र दौड़ाकर देखा, कोई हमें लेने आता है, या नहीं; मगर किसी का पता न था। कहाँ, जाते, किस रास्ते जाते, इसी का विचार करते हम वहाँ खड़े थे। इसी बीच कई महानुभाव हमारे सामने से निकल गये—कोई पीताम्बर पहने, कोई सिर पर पगड़ी और कन्धे पर दुपट्टा डाले; मगर जान-पहचान का एक भी न निकला।

मैंने कहा—गाँडाभाई! कब तक यह तपस्या चलेगी? अपने तो हाथ अब काम नहीं करते। चलो, अन्दर तो चलो; देखा जायगा।

जो गाँडाभाई इतने आग्रह के साथ मुझे लाये थे इस अपमान से अब वही सिटपिटा रहे थे। बोले—चलो। और हम अन्दर घुसे। घुसते ही हमने देखा, एक कमरे में हिंडोले पर बैठे हुए छः-सात सज्जन हा-हा, ही-हो कर रहे थे; कुछ लोग गाने में तल्लीन थे; कुछ बिछौना बिछाने में और दोपहर की निद्रा की तैयारी में लगे थे; वहीं हमने अपना असबाब रखा और कोई खाली कोना ढूँढ़ने लगे। पास के एक छोटे कमरे में पाँच आदमियों का सामान पड़ा था। ऊपर दुमंजिले पर कोई बीस-बाईस मूर्त्तियाँ लेटी हुई थीं; उनमें कोई ऊँघ रहा था, कोई गप लड़ा रहा था। घर में कहीं पैर रखने की जगह नहीं थी—सोने-बैठने की जगह की तो बात छोड़िये। मालूम होता था, घर में आदमी नहीं कीड़े बिलबिला रहे हैं।

आखिर घूम-फिरकर हम नीचेवाले कमरे में आये। हमें भटकते

देखकर भी किसी साहब ने यह न पूछा कि आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं!

मैंने कहा—गाँडाभाई! यहाँ तो सब मेरी तरह किराये के टट्टू मालूम होते हैं।

वह बोला—हाँ, रंग-ढंग तो कुछ ऐसा ही है।

बेचारे और क्या कहते।

'तो आइये, एक काम करें।'—मैंने कहा, इसी कमरे में डट जायँ। जब सभी किरायेदार हैं, तो फिर डर क्या है! और मैंने एक का बिस्तर, दूसरे की पेटी और तीसरे का झोला उठाकर एक कोने में रख दिया और अपने लिए जगह कर ली। बाहर बैठे हुए लोग उठकर अन्दर आये। हमारी हिम्मत जो उन्होंने देखी, तो समझे, हम कोई खास-खास हैं; बस जगह-ही-जगह हो गई। फिर मैंने और गाँडाभाई ने सलाह करके तय किया कि पेट-पूजा के लिए भी यही तरीक़ा अख्तियार करना चाहिये। तुरन्त हमने एक आदमी को पकड़ा, और उसके साथ वहाँ पहुँचे, जहाँ रसोई बन रही थी। वहीं सामने एक कुएँ पर नहाया और खाने बैठे। हमसे पहले पचीसों मेहमान जीम चुके थे; चारों ओर जूठन की कीच मची हुई थी; उसी के बीच उकड़ूँ बैठकर हमने खाना शुरू किया। बड़े मज़े का ठण्डा भात था; डुबकी लगाने पर भी दाल का पता न चले, ऐसी गाढ़ी दाल थी; आँख और नाक से गंगा-जमुना बहानेवाली तीखी, रोमांचकारी तरकारी थी, और सड़े घी की खुशबू से तर रसीले लड्डू थे। ऐसे सुस्वादु भोजन से तृप्त होकर गाँडाभाई के साथ मैं सेठ की सेवा में पहुँचा।

साँवलशाह मोटे, बूढ़े, काले और गोलमटोल गृहस्थ थे। पसीने और अरगजे के मैल-सी देह उनकी ऐसी लगती थी, मानो वार्निश चुपड़ा हो। गले में कण्ठा पड़ा हुआ था। हाथों में कड़े और कानों में बालियाँ शोभा दे रही थीं। मुँह पर सुख की छटा थी; हाथ में आईना

लिये मूँछें टटोल रहे थे। अभी-अभी नाई ख़िज़ाब लगाकर गया था। देखते ही बोले—

ओह हो ! कौन, गाँडाभाई ! आओ, आओ ; मैं सुबह से तुम्हीं को याद कर रहा था।

'सो तो आपकी दया है। मैं तो हमेशा हाज़िर ही रहता हूँ। आप मेरे मित्र श्री० रणछोड़ भाई हैं।'

'पधारिये पधारिये, रणछोड़ भाई ! दुनिया में भले आदमी मिलते ही कहाँ हैं ? अबकी भगवान की बड़ी दया है। पिछली बार जब लल्ला की मा से ब्याह हुआ, कुल बारह आदमी भी न थे। मगर दुनिया में और है ही क्या—जाने से देखना भला।'—जैसे डॉक्टर मरे हुए रोगी की चर्चा करता है, उसी बेपरवाही के साथ अपनी मृत पत्नी को याद करते हुए सेठ यह सब कह गये।

'ठीक कहा, सेठ साहब ! ब्याह तो आज शाम को है न ?'

'अजी, क्या बताऊँ। इस समरथ जोशी से कह-कहकर थक गया, मगर यह अपनी टर्र नहीं छोड़ता। जब देखो, तब यही अड़ंगा !'

बूढ़े उल्लू-सी आँखोंवाले समरथ जोशी दूर बैठे दच्छिना गिन रहे थे। उन्होंने सुना। ऊँची गरदन की और बोले—सेठ, मेरे हाथ की बात है क्या ? फिर भी कहता हूँ, अबकी जाने दो, अगली बार ऐसी भूल न होगी !

'क्या कहा रे, समरथ ! यह पाँचवीं बहू तो आज आ रही है, और कै बाकी हैं ?'

'नहीं यजमान ! ऐसा नहीं कहते। जो ललाट में लिखा होता है, उसे कौन मेट सकता है !'—तनिक मुसकराते हुए समरथ जोशी ने कहा।

इतने में बाहर सूरत से मँगाया हुआ 'बैण्ड' आ पहुँचा और हमें एक घण्टे की फुरसत मिली।

मैंने पूछा—गाँडाभाई ! सेठ की उमर क्या होगी !

'यही पचास समझ लीजिये—एक-दो साल इधर या उधर। आपको पता नहीं, सेठजी के पिता साठवें में ब्याहे थे।'

मैंने सोचा—साँवलशाह अभी अपने बाप की बराबरी ही कर नहीं पाये—सवाई क्या करेंगे? लेकिन, ईश्वर न करे, कहीं इस पाँचवीं औरत को भी कुछ हो गया, तो अपने पुरखों की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए सेठ सवाई बनने से चूकेंगे नहीं।

मैंने फिर पूछा—भला दुलहिन की क्या उमर होगी?

वह बोले—यही पाँच-छः साल समझिये। इसी गाँव के एक देसाई की लड़की है। बड़े खानदानी लोग हैं; परिवार भी ख़ासा बड़ा है।

सुनकर मैंने कहा—अच्छा। और चुप हो गया। मकान पर आकर हमने कपड़े बदले। गले में दुपट्टा डाला और बाराती की शान से सेठ के बँगले पर पहुँचे। देखते क्या हैं, कि बारात की तैयारियाँ हो रही हैं। बैण्डवाले मनमाना बजा रहे हैं—शोर इतना है कि कान-पड़े सुनाई नहीं देता। पोशाक उनकी निराली है। कहीं नीलाम में किसी नाटक कम्पनी की पुरानी खोटी ज़री की पोशाक ख़रीद ली थी; इस समय वही शान से पहने खड़े हैं। और समझते हैं कि बस हमीं हम हैं। दूसरी ओर देशी बाजा बज रहा था। आठ-दस ताशेवाले अपनी धुन में मस्त बजा रहे थे। दो हिजड़े शहनाई की तीखी आवाज़ के साथ तालियाँ पीटकर नाच रहे थे। लोगों की भीड़ भी उसी तरफ़ ज़्यादा थी। मैंने सोचा, हमारा स्वदेश-प्रेम अभी जीता-जागता है—हम अपने ही संगीत पर आज भी मुग्ध हैं। इतने में पास खड़े हुए एक सज्जन ने कहा—शाबाश! सेठ साहब, शाबाश! शादी इसे कहते हैं। जनाब, चालीस कोस से ये हिजड़े बुलाये गये हैं।

सेठ के बँगले के सामने एक छोटा-सा चौक था; और चौक की हवा नाना प्रकार के तार-मन्द्र स्वरों से गूँज रही थी। दोनो तरफ दो

नालियाँ थीं, जिनमें बहता हुआ गंगा-जमुना का सुरभित जल दर्शकों की घ्राणेन्द्रिय को तृप्त कर रहा था। वहीं नाली के पास एक पड़ोसी के चबूतरे पर हमने अपना आसन जमाया। मालूम हुआ, सेठ किसी धर्म-कर्म में लगे हैं; क्योंकि बीच-बीच में ब्राह्मणों की वेदध्वनि का कोलाहल आ-आकर हमारे कानों को पवित्र कर जाता था। दक्षिणा पाते ही ब्रह्म-मंडली को विश्वास हो गया कि अब धर्मानुसार सेठजी ब्याह योग्य हो गये; और तुरन्त धार्मिक क्रियायें पूरी हो गईं। जो थोड़े लोग अन्दर थे, वे बाहर आये और दूल्हे के लिए घोड़ा बुलाया गया।

घोड़े को देखते ही ख़याल आया कि लानेवालों को उसके लिए भगीरथ मेहनत करनी पड़ी होगी। सिकन्दर का 'ब्यूसेफेलस' और नेपोलियन का मशहूर सफेद घोड़ा, इसके मुकाबले में कोई चीज़ नहीं थे। डॉन क्विकज़ोट के 'रोज़ीनैण्ट' को भी यह मात करता मालूम होता था। इसके सिर्फ एक आँख थी और बुढ़ापे के कारण लटके हुए ओठों से लगातार लार टपक रही थी। गले में चाँदी के गहने थे; पैर में कड़ा पड़ा था। पर उसकी हालत और उसके खड़े रहने के ढंग से ऐसा मालूम होता था, मानो वह सोच रहा हो—'अब मरूँ या तब मरूँ!' कुछ मक्खियाँ भी थीं, जो बेचारे को परेशान कर रही थीं; फिर भी वह दृढ़, शान्त और स्थिर होकर साँवलशाह जैसे दूल्हे का भार ढोने की खुशी में अपनी एक पूरी आँख मूँदे खड़ा था। सेठ आये। मुँह में पान का बीड़ा था; आँखें कजरारी थीं; भूगोल की-सी भव्यतावाली देह ज़रींन जामे और पगड़ी के प्रकाश से जगमगा रही थी; माथे पर फूलों का सेहरा और हाथों में नारियल था। अनोखी वह छवि थी और निपट निराली सुन्दर! विदेशियों से कहिये—आओ और देखो! है कोई मिसाल इस कला की आपके पास? कैसे ही क्यों न हों, आख़िर श्रेष्ठता में हमसे कौन बाजी ले सकता है!

सेठ चबूतरे के किनारे आकर खड़े हुए—घोड़ा चबूतरे से सटाकर

खड़ा किया गया। परन्तु जैसे ही सेठ चबूतरे पर से पैर उठाकर घोड़े पर रखते, घोड़ा हिनहिना उठता, गरदन हिलाने और कन्धे उछालने लगता—पता नहीं वह क्यों ऐसा करता था। शायद सेठ का वह स्वरूप देखकर उसे कालिका माता की याद आ जाती थी और वह चौंक उठता था, या पशु की ब्याह-सम्बन्धी पवित्र भावना के विचार से सुधारक बनकर सेठ को उनके इस कृत्य के लिए उलहना देता था; या बुढ़ापे के कारण सन्यास की अवस्था में आ चुका था, और शायद सेठ को भी उसी की सूचना करता था। एक अजीब हालत पैदा हो गई थी। और बेचारे सेठ थे कि जिस दिन ब्याहने जाते, उस दिन घोड़े पर बैठने का अभ्यास करते थे, इसलिए ज्योंही घोड़ा हींसता, आनेवाले ख़तरे के ख़याल से सेठ तुरन्त अपना पैर खींच लेते। यों सेठ ने एक, दो, तीन, नहीं; बल्कि सात-सात बार इस बूढ़े घोड़े पर सवार होने का भगीरथ प्रयत्न किया, और बेचारे सातों बार जहाँ के तहाँ रहे। आख़िर दो सज्जनों ने आगे से अश्वराज का मुँह पकड़ा; दो पूँछ की ख़बरदारी रखने के लिए पीठ के पास खड़े रहे और दो सेठ के अगल-बगल खड़े होकर बोले—अब आप बिलकुल न डरिये। बेधड़क सवार हो जाइये।

सैकड़ों आँखें इस समय एक जगह टँगी हुई थीं। इतनी एकाग्रता तो उस समय द्रुपद के दरबार में भी नहीं दिखाई पड़ी होगी, जब अर्जुन ने मत्स्य-वेध किया था। बेधड़क सवार होने की बात सुनकर सेठ ने दोनो हाथों में हिम्मत पकड़ा—मगर नहीं; मैं भूला—उनके वे हाथ तो नारियल से रुके थे—फिर भी उन्होंने पैर उठाया—पहले से कुछ ज्यादा ऊँचा—और रखा घोड़े की पीठ पर। लेकिन एक तो घोड़े की जान; तिस पर बूढ़ा, फिर पूछना ही क्या था! उसी दम उलट गया—मुँह सेठ की तरफ़ था, और कान खड़े हो गये थे। सेठ घबड़ाये प्राण ब्रह्माण्ड में जा लगे, पीछे खिसके; जान बचाने के लिए

हाथ का नारियल नीचे गिरा दिया ; मगर जैसे ही पीछे हटे, पगड़ी दीवार से भिड़ गई, खिसकी, आगे आई और नीचे लुढ़क पड़ी। दूल्हे का ताज धूल में लोटने लगा। लोगों में हाहाकार के बाद हःहःहःकार गूँज उठा। सेठ ने सिर ऊँचा किया—दयार्द्र दृष्टि से लोगों को देखा ; तिरस्कार से घोड़े को देखा ; गौरव से बीच में पड़ी पगड़ी को देखा ; उलहने के साथ ऊपर आसमान को देखा—शायद ईश्वर की ओर देखा। न जाने उन्हें क्या दिखाई पड़ा ; एकाएक ओंठ खिंचकर लटक गये और सारी जन-मण्डली को व्याप्त करती हुई उनकी एँ-एँ-एँ से शुरू होनेवाली रुदन-ध्वनि वातावरण में व्याप्त हो गई।

लोगों ने आकर चारों ओर से उन्हें घेर लिया। कइयों ने मुँह में रूमाल ठूँसा, कइयों ने दुपट्टे से मुँह छिपा लिया। क्यों, मैं नहीं जानता। सोचता हूँ, शर्म के कारण उन्होंने ऐसा किया होगा। सेठ क्यों रो पड़े, कुछ समझ में नहीं आया। मगर आगे चलकर उन्होंने रोती हुई आवाज़ में कहा—मुझे लल्ला की मा का स्मरण हो आया था। लोगों ने प्रयत्नपूर्वक सेठ को स्वस्थ किया, फिर चार सशक्त बारातियों ने मिलकर उन्हें उठाया और घोड़े पर बिठा दिया। इस समय मुझे घोड़े की आँखों में पाखण्ड और उसके रंग-ढंग में द्वेष-बुद्धि का आभास हुआ।

घोड़े पर सवार होते ही सेठ के बूढ़े कंधे पर एक तलवार रखी गई। घोड़े से गिरने का और हाथ से नारियल के छूट पड़ने का डर तो था ही ; म्यान में से तलवार निकल पड़ने की एक और चिन्ता सवार हो गई ; इन्हीं भय और चिन्ताओं में डूब वरराज जैसे-तैसे अपनी सवारी कसे रहे। जब लोगों ने उन्हें तैयार पाया ; तो बैण्ड बज उठा, हिजड़े नाच उठे, और बाजे की ताल पर थिरकता हुआ बारातियों का दल हर्ष-ध्वनि के साथ आगे बढ़ा।

आखिर बारात समधियाने पहुँची। समधी का घर थोड़ा निचान

में था—वहाँ पहुँचने के पहले एक ढाल पार करने की ज़रूरत थी। ताशेवाले तान में, हिजड़े गान में, और बाराती अपनी शान में ढाल उतर गये—और उतरकर वापस लौटे। ऊपर जहाँ ढाल शुरू होता था, सेठ और उनका घोड़ा यों ठिठककर खड़े थे मानो पहाड़ पर कोई फरिश्ता खड़ा हो। और घोड़ा था कि बग़ावत की तैयारी-सा करता हुआ, मन में उसका निश्चय किये, अटल अविचल भाव से ढाल पर खड़ा लोगों को दबाता, सेठ को घबराता और आनन्द फैलाता अड़ा था। अरे घोड़े ज़गाने का असर तुझ पर भी क्या ?

दो-चार बाराती ऊपर को दौड़ गये और लगाम पकड़कर घोड़े को खींचने लगे। लेकिन घोड़ा था कि टस से मस न हुआ। सेठ ने प्रस्ताव किया—मैं उतर पड़ूँ ? लोगों ने कहा—वाह, आप कैसे उतर सकते हैं ? दो तीन सज्जनों ने घोड़े की लगाम थामी, और एक ने पीछे जाकर घोड़े को चाबुक मारा। घोड़ा हिम्मत हार गया—बग़ावत का इरादा उसने छोड़ दिया। मार से डरकर उसने त्याग स्वीकारा और चलने लगा। एक, दो, तीन—ढाल बढ़ता गया, घोड़ा झुकता गया। सेठ घबराये ; निचान देखकर घोड़े की गरदन पर झुक गये। झुकते ही घोड़े के अगले पैर काँप उठे, उसने ज़िम्मेदारी छोड़ दी ; आगे के दोनो पैर झुके, फिर मुड़े और फिर गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से वह समूचा नीचे को लुढ़क चला। निचान में हम लोग खड़े थे—वहीं बिलकुल हमारे पास, घोड़ा लुढ़कता आया और आये उसकी गर्दन से चिपटे हुए सेठजी ! आकर दोनो वहीं अटक गये। स्वारथ के साथ बाराती तमाशा देखा किये—मदद के लिए दौड़ने से पहले उन्होंने सोचा—देख लो, जो भरकर देख लो ! इस जीवन में फिर यह दृश्य कभी देखने को न मिलेगा ! जब देख चुके, तो लोगों ने झपटकर सेठ को उठाया, और अब चूँकि समधी का घर नज़दीक ही था, उन्हें पैदल ही वहाँ तक ले चले।

दूल्हा परखा गया, समधिनें रूठीं, और हमारे पुराने रिवाज के अनुसार दूल्हा मण्डप में पहुँचा, इतने में दुलहिन के मामा कपड़े में लिपटी हुई गुड़िया की एक गठरी-सी उठाकर लाये और मण्डप में दूल्हे के सामने बैठा गये। श्लोक पर श्लोक पढ़े जाने लगे। दूर पर जहाँ मैं खड़ा था, समरथ जोशी गंगाल में देखकर घड़ी गिन रहे थे, जिस-तिस श्लोक की कड़ी जोड़-तोड़कर सेठ को 'सावधान' करते जा रहे थे। मैंने देखा, इस समय जोशी का अजब ही रंग था। उनकी आँखों से कोई अनोखा तेज झलक रहा था—और उनकी ज़बान कभी-कभी लड़खड़ा जाती थी। मैंने सोचा—हो न हो, आज जोशी महाराज ने 'विजया' की आराधना की है। दूर पर हरे पानी से भरा एक लोटा देखकर मेरा यकीन और भी बढ़ गया। सेठ के ब्याह की खुशी में और भोले शंकर को प्रसन्न करने की स्तुत्य कामना से जोशी महाराज आज खूब छके थे। मैंने पानी से भरी गंगाल पर जो नज़र डाली, तो देखा पानी पर कुछ भी नहीं है। फिर भी जोशीजी बार बार उधर देखते जाते थे और समय की घोषणा करते जाते थे। भंग-भवानी की मस्ती में काल्पनिक घड़ियों की हस्ती एक अरुण रंग ला रही थी। आख़िर जोशी महाराज ने बिस्वा इक्कीस लगन सा...व...धा...न! कहकर थाली बजाई, और उधर बाजे बज उठे। साँवलशाह एक बार फिर चतुर्भुज हुए, उनकी मनोकामना पूरी हुई।

कुछ देर में जब भीड़ छँटी, मैं मण्डप के पास पहुँचा। दुलहिन सो रही थी और उसकी मा उसे गोद में लिये बैठी थी। सप्तपदी का समय आया—उस सप्तपदी का, जिसकी महत्ता पर हमारे विवाह-संस्कार की पवित्रता के स्तम्भ खड़े किये गये हैं। एकाएक मैं धार्मिक भावनाओं से परिलुप्त हो उठा। मैं खुद तो आठ वर्ष की उम्र में ब्याहा गया था और घरवाली अभी वही थी; इसलिए मुझे तो याद भी नहीं पड़ता कि उस समय मेरे क्या भाव थे; किन्तु आज मुझे उनका कुछ

अनुभव हुआ। पेट पर हाथ जमाकर धीमे-धीमे सेठ उठे ; सेठानी किसी तरह जागती नहीं थीं। आख़िर उनकी मा उठीं, बिटिया को गोद में उठाया और सेठ के साथ फेरा फिरीं। सप्तपदी की पवित्र विधि इस प्रकार समाप्त हुई !

लिखने को तो अभी बहुत कुछ है ; लेकिन ज्यादा न लिखूँगा। जैसे ही मण्डप से निकलकर बाहर आया, मेरे कानों पर एक अजीब स्वर-प्रवाह टकराने लगा। ऐसा आभास हुआ, मानो भिल्लनियाँ नशे में चूर होकर अनाप-शनाप गा रही हैं ; उन्हें न अपनी लाज का भान है, न सुरताल का ध्यान है। साहित्य का ख़याल छोड़, शब्दों की मर्यादा तोड़ वे बेलगाम बहक रही हैं। और मैंने देखा, ये हमारी वही चतुर गृहिणियाँ हैं, जो लम्बा घूँघट ताने घर में इतना धीमे बोलती हैं कि समझ नहीं पड़ता क्या कहती हैं। यह सब कुछ देख चुकने के बाद दुलहिन को देखने की तो अब मुझे कोई साध न थी। इसलिए हम लौटकर डेरे पर आये। जब रात गाड़ी का वक्त हुआ, मैंने गोंडाभाई से विदा माँगी और कहा—भई, अब मुझे जाने दो।

उन्होंने अनुरोधभरी वाणी में कहा—लेकिन, रणछोड़ भाई ! सेठ से मिलकर जाओ ; नहीं वह बुरा मानेंगे, और सुबह मुझे डाँटेंगे।

मैंने कहा—अच्छी बात है। और एक बार फिर मैं समधी के घर पहुँचा। सेठ का पता लगाया, तो मालूम हुआ, माता की कोठरी में वर-कन्या पूजा कर रहे हैं। लोग ज्योनार की तैयारी में थे, इसलिए घर में सन्नाटा था। मैं निर्दिष्ट कोठरी की तरफ़ गया, जाकर देखा और खड़ा रह गया।

दीवार पोतकर उस पर माता 'माँडी' गई थी। पास में माता की पूजा करने के लिए और पुरोहित का पात्र भरने के लिए चावल और गेहूँ की ढेरियाँ लगी थीं। सामने सेठ और नई सेठानी—जो इस समय जाग रही थीं—बैठे थे। पुरोहित किसी चीज़ की तलाश में बाहर गये

जान पड़ते थे।

मैं आगे बढ़ा और सेठ से विदा माँगने के विचार से ज्योंही कोठरी में पैर रखा, वहीं ठिठककर खड़ा हो गया। मुझे एकदम अपनी मर्यादा का ख़याल आ गया। मैंने देखा, इस समय सेठ संवनन (Wooing) में संलग्न थे—वे धीमे-धीमे छः बरस की लाड़िली कन्या का घूँघट उलट रहे थे। और वह घूँघट के अन्दर से खिलखिलाकर हँस रही थी। मैं तो देखता ही रह गया। कौन कहता है, हमारे यहाँ संवनन की प्रथा नहीं है? मैं चित्र-लिखा-सा खड़ा रहा और देखा किया। सेठ ने घूँघट उलट दिया और अपनी छोटी और बूढ़ी आँख से एक कटाक्ष किया। फिर सेठ धीमे से सेठानी की ठुड्डी पकड़ने को हुए। मगर सेठानी ने 'ऊँहूँ' करके सिर हिला दिया और पीछे हट गई। सेठ तनिक पास खिसके; सेठानी ने धमकाया—मा को बुलाऊँ? सेठ फिर भी हिम्मत न हारे; बोले—चुप बैठी रह! फिर सेठ ने हाथ फैलाया और सेठानी को गुदगुदाने और चूमने चले। इसी समय एकाएक सेठानी की तीखी आवाज़ कोठरी में गूँज उठी—

'ए अम्मा! ए अम्मा री! यह बुड्ढा मुझे मारता है!'

• • •

अब मैं क्या कहूँ! रणछोड़, रण छोड़कर भागा। चुपचाप भाग निकला। भागते समय औरतों के बैठे हुए कण्ठ से निकला हुआ स्वर मुझे दूर तक सुनाई पड़ता रहा—

'ए वर नहीं परणे, नहीं परणे,
अमे जीत्या रे जीत्या!'

खेमी

'अरे, इस तरह कितनी दियासलाइयाँ बिगाड़ेगा ! एक बक्स दो दिन तो चलने दे ।'—जब धनियाँ ने बीड़ी सुलगाने के लिए एक-एक करके पाँच-छः सलाइयाँ जला डालीं तो खेमी से रहा नहीं गया ।

'अरी, इस हवा को तो देख, कैसी उलटी चल रही है । दिया-सलाई को सुलगने तक नहीं देती ।'—धनिया ने फिर बक्स खोला ।

'ले, मैं आड़ करती हूँ ।'—कहकर खेमी ने अपने घूँघट का छोर

नीचे को खींच लिया और धनियाँ के निकट जाकर उसके मुँह के सामने खड़ी हो गई। घूँघट के छोर ने पर्दे का काम किया। धनियाँ की सलाई सुलगी और उसकी साँस के साथ दियासलाई का प्रकाश टिमटिमा उठा। धनियाँ इस प्रकाश में अपनी पत्नी के यौवन-पूर्ण, भरे हुए, गोरे गेहुँएँ रंगवाले, बड़ी-बड़ी चमकीली आँखोंवाले और नाक में बड़े-से काँटेवाले मुँह को एकटक देखता रहा। बीड़ी की लज्जत से भी अधिक वह अपनी नवोढ़ा के सौन्दर्यपान में तल्लीन हो गया। बीड़ी के सुलगते ही जब खेमी हटकर अपनी जगह पर जाने लगी, तो धनियाँ ने कहा—मेरी सौगन्ध, तू दूर न जा।

'ले रहने दे, पागल न बन!'—कहती हुई खेमी अपनी जगह पर चली गई।

'तेरी सौगन्ध खेमी! तू मुझे बहुत ही प्यारी लगती है।'

'फिर वही बात! लोगों की,इस भीड़ का भी तुझे कुछ ख़याल है या नहीं?'

'वे बेचारे तो अपने खाने में लगे हैं। किसे फुरसत है कि हमारी ओर देखे? कोई कहे, किस नव विवाहित दम्पति के मन में ये विचार नहीं आते?

आज धनियाँ के गाहक एक सेठ के घर जातिवालों की ज्योनार थी। इस खुशी में कि आज अच्छा खाने को मिलेगा, ये दोनो, पाखाने की सीढ़ियों पर बैठे विश्रम्भालाप कर रहे थे। खानेवालों को मँगतों और बाघरियों के हमले से बचाने के लिए सेठ ने इन्हें वहाँ बैठाया था। दोनो ने कुछ दिन पहले, ब्याह के अवसर पर, पहने हुए कपड़े पहन रखे थे। धनियाँ ऊपर 'फटका' और नीचे अतलस का जाकेट और पैर में मोजे पहने था। खेमी एक सोहागिन सेठानी की अरथी पर से उतारी हुई रेशमी साड़ी पहने थी।

बीड़ी का एक दम लेकर धनियाँ बोला—खेमी, तेरी मा की सब

माँगें पूरी करके मैं ब्याह तो तुझी से करता ।

'लेकिन मेरी मा ने किसी दिन तुझसे एक पाई भी ली है ? उलटे मैं तो तेरे घर में कुछ लेकर आई हूँ । मेरी मा ने तो ब्राह्मणों-जैसा ब्याह कर दिया है ।'

'हाँ री, तेरी मा तो बहुत ही भली है, तू न जाने कैसे ऐसी खराब निकली !'

'अरे वाह ! मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है ?'

'बिगाड़ा नहीं ? ब्याहते-ब्याहते तूने कितने ही तो फितूर किये— शराब न पिये, गालियाँ न दे, और हाथ न चलावे, तभी ब्याहूँ, न तो न ब्याहूँ और जिस दिन ऐसा करे, उसी दिन छोड़कर चली आऊँ— भला ऐसा भी कहीं होता है ?'

'नहीं क्यों होता ? मुझसे यह नहीं सहा जाता कि कोई शराब पीकर आवे, धींगामस्ती करे और न कहने की कहे ! वे मार खा लेने-वाली तो कोई और ही होंगी !'

खेमी के सत्य और प्रताप के सामने धनियाँ टिक न सका । वह धीमे से बोला—अच्छी बात है ; लेकिन मैं पीता ही कब हूँ कि तू यों बढ़-चढ़कर बोलती है ! मुझे तो किसी भी तरह तुझसे शादी करनी थी । जब तू छोटी थी और चुँदरी की गाँठ बाँधकर मा के साथ सड़क बुहारने निकलती थी, तभी से तू मेरे मन में बस गई थी । तूने यह गाँठ बाँधना किससे सीखा, खेमी ?—धनियाँ ने खेमी की छाती पर बँधी हुई गाँठ को छूकर पूछा ।

'पड़धरी में तो सभी औरतें काम करते समय ऐसी गाँठ बाँध लेती हैं ।'

खेमी की मा असल में काठियावाड़ के पड़धरी गाँव की रहनेवाली थी । अकाल के साल में खेमी के साथ वह यहाँ रहने चली आई थी ।

'हाँ रे धनियाँ, किसलिए तुम लोग यह दारू पीते हो ! इस दारू

में ऐसा क्या धरा है ? तू तो कहता था, दारू कड़वी लगती है ।'

'खेमी, जब किसी दिन मन उदास होता है, थककर चूर हो जाते हैं, और कुछ अच्छा नहीं लगता, तब पी लेते हैं। पीने से आराम मिलता है ।'

खेमी कुछ देर चुप रही। उसे फिर इच्छा हुई कि अपने सौभाग्य और सत्ता की बड़ाई सुने। उसने पूछा—हाँ रे धनियाँ, मेरा ब्याह किसी और के साथ होता तो ?

'अरे कोई है भी, कि जिसकी मा ने सवा सेर सोंठ खाई हो और तुझसे ब्याह करे ? तू कहीं क्यों न होती, मैं तुझे उठा लाता ।'

खेमी ने कहा—अरे रहने दे, बस रहने दे ! इतना घमण्ड न कर । इस दुनिया में सेर के सवा सेर बहुत पड़े हैं ।'

इतने में जाति में कोलाहल मचा। एक कुत्ता अन्दर घुस गया था। उसने एक पत्तल बिगाड़ी और लोगों ने मार-पीटकर उसे बाहर निकाला। सेठ नाराज़ हुए। उन्होंने चौकीदार को आड़े हाथों लिया। चौकीदार ने भंगी का कसूर बताया और सेठ अपने सारे गुस्से के साथ भंगी पर उबल पड़े—हाथ में बीड़ी लिये बड़ा 'गवंडर' बनकर बैठा है, और कुत्तों को निकालता नहीं है। उठ यहाँ से, हरामजादे कहीं के।—सेठ ने सिर्फ मारना बाक़ी रखा।

धनियाँ और खेमी को बहुत ही बुरा लगा। उनके रंग में भंग हो गया, उनका सारा उल्लास उड़ गया। दोनो बिना कुछ बोले उठकर चलने लगे। कुछ तय नहीं था कि कहाँ जाना होगा ; पर खेमी अपने आप, अनजाने ही, रीची रोड की ओर चलने लगी, इस प्रेरणा से कि उधर कुछ दिल बहल जायगा। धनियाँ को बहुत ही बुरा लगा था। खेमी उसे आश्वासन देने लगी। जो धनियाँ वहाँ कुछ न बोला था, वही अब इतनी देर बाद फिर बोला—'कुत्ते हाँकने का काम तो चौकी-दार का था, फिर मुझे इतनी जली-कटी क्यों सुनाई ?' खेमी ने फिर

आश्वासन दिया। अपने मन का सच्चा दुःख प्रकट करते हुए धनियाँ बोला—और तो कुछ नहीं, तेरे देखते वह इतनी बातें कह गया, इसी का मुझे बहुत ज़्यादा खटका है।

खेमी गहरे विचार में गर्क हो गई। अन्याय का यह विचार उसके दिल में खटकने लगा कि उसने ही धनियाँ को बातों में उलझाया और अधिक अपमान भी धनियाँ का ही हुआ। उसका हृदय यह देखकर और भी टूक-टूक होता था कि धनियाँ उदास-सा है, और चुपचाप चल रहा है। चलते-चलते रायखड़ की कलवरिया का रास्ता आ पहुँचा। एकाएक खेमी को याद आया कि जब धनियाँ को अच्छा नहीं लगता, तो दारू पीने से उसे आराम हो जाता है। स्त्री-सुलभ कोमलता से अपने आँचल के छोर से अठन्नी खोलकर उसने धनियाँ के हाथ पर रख दी और कहा—अरे, यों गूँगा कब तक बना रहेगा! जा वहाँ जाकर दारू पी आ। जल्दी लौटना, मैं यहीं खड़ी हूँ।

धनियाँ खुश होता हुआ तीर की तरह चला गया।

खेमी खड़ी बाट जोहने लगी। मन में उसके यह शंका होने लगी कि मैंने ख़ुद ही शराब न पीने की शर्त करवाई, और अब ख़ुद ही उसे शराब पीने को पैसे देकर ठीक नहीं किया। इतने में खुश होता-होता धनियाँ आया और कहने लगा—खेमी, देख अब मैं बिलकुल अच्छा हो गया हूँ। मैं कहता न था कि दारू से मुझे आराम मिलता है?

खेमी ने कहा—ले छोड़ अब इस बात को; लेकिन ख़बरदार! दोबारा कभी पी तो घर से निकाल ही दूँगी।

'नहीं खेमी, फिर कभी नहीं पीऊँगा। मैं तो तुझे दिल से चाहता हूँ। अरे, अब सेठों की ज्योनार गई जहन्नुम में। मैं दारू पीता हूँ; पर मुझे कभी चढ़ती नहीं है। देख इस समय भी मेरी बातों में कोई फरक पड़ा है? तू तो नाहक मुझसे डरती है। मैं कितनी ही दारू क्यों न पीऊँ; पर तुझे तो हाथ न लगाऊँगा। मैं तुझे कितना प्यार करता

हूँ...यों बड़बड़ाता हुआ धनियाँ चलने लगा। खेमी उसे साथ लिये इन सब घटनाओं पर मन-ही-मन विचार करती हुई घर पहुँची।

❀ ❀ ❀

साँझ का समय था, जिस गाँठ ने धनियाँ को अहमदाबाद में मोहित किया था, वही गाँठ बाँधे खेमी झाड़ रही थी ; लेकिन इस समय वह अहमदाबाद में न थी, न धनियाँ उसके पास था। कोई छः महीने पहले वह दोनो को छोड़कर यहाँ चली आई थी। ब्याह के दिन से दारू न पीने की शर्त के रहते भी, ऊपर की घटना के बाद, धनियाँ दारू पीने लगा था—कुछ इस विश्वास से कि खेमी इसे सह लेगी, कुछ इस ख़याल से कि ऐसी शर्त का पालन करना औरत के सामने अपनी कमज़ोरी बताना है, कुछ पियक्कड़ों के लिए स्वाभाविक इस मिथ्याभिमान से कि शराब का उस पर कोई असर नहीं होता, और कुछ बुरी सोहबत में पड़कर ! खेमी ने बार-बार उसे धमकाया, धिक्कारा और छोड़कर चले जाने की धमकियाँ दीं, लेकिन धनियाँ ने झूठ समझकर इनकी पर्वा न की। आख़िर एक दिन वह बहुत ज़्यादा पीकर आया और इस घमण्ड में कि मुझे छोड़कर यह और किसके घर जायगी, उसने खेमी पर हाथ चला दिया। दूसरे दिन सबेरे खेमी चल पड़ी। उसकी मा मर चुकी थी, मायके में कोई न था। वह नड़ियाद पहुँची और परसोतम नामक एक कारकुन को, जो म्युनिसिपलिटी की ओर से भंगियों का जमादार था, अपनी तनख्वाह में से थोड़ी रिश्वत देकर वह नौकर हो गई। नड़ियाद में आमतौर पर लोग उसे मनमौजी समझने लगे थे। छोटे-बड़े सभी भंगी उसके साथ हँसी-मज़ाक में शामिल होते थे ; लेकिन खेमी के दिल में धनियाँ को छोड़ने का काँटा अन्दर-अन्दर खटका करता था। अहमदाबाद से आनेवाले हरएक भंगी से वह धनियाँ के समाचार बड़ी आतुरता से पूछती। वह जानती थी कि उसके पास फिर जाने से धनियाँ उसे प्रेम

के साथ रखेगा ; पर उसने निश्चय किया था कि अब तो तभी जाऊँगी, जब भनियाँ बुलावेगा। इसके लिए तो उसने अनेकों पीर-पैगम्बर और देवी-देवताओं की मन्नतें मानी थीं। फिर भी अब तक भनियाँ की ओर से कोई बुलाहट न आई थी। इससे उसकी निराशा बढ़ती जाती थी और इस निराशा से उत्तेजित होकर अपने मन की सारी रीस वह रिश्वत लेनेवाले परसोतम पर निकाला करती थी। उसने उसे चिढ़ाने के लिए कुछ गीत भी रचे थे।

खेमी झाड़ रही थी कि इतने में मंगी ने, जो पास ही झाड़ू लगा रही थी, कहा—अरी खेमली, ज़रा अपना वह गीत तो गा!

खेमी भनियाँ के विचारों में लीन थी, उसने सहज ही कहा—तू क्यों नहीं गाती?

मंगी खेमी की तरह गाना जानती न थी। वह बोली—अरे, पर उसकी चौथी कड़ी तो कुछ जानती ही नहीं।

'तू गाना जानती भी है?'

'तो तू ही गा, देखें!'

खेमी जोश में आ गई। वह गाने लगी—

ओरो आव्य ने केशला, तारो ओशलो कूटूँ।
ओरो आव्य ने केशला, तने पाटुए पीटूँ।
ओरा आव्य ने केशला, तने धोकणे ढीबुँ।
ओरो आव्य ने केशला, तारे पूँछड़े लींबु। *

'देखा, इसमें जमने की क्या बात थी?'

'लेकिन यह तो तूने जोड़ रखा है। भला 'पूँछड़े लींबु' भी कोई बात है?'

---

* अरे केशला, (केशव का बिगड़ा हुआ रूप) तू इधर तो आ, तेरी रोटियाँ बनाऊँ, तुझे घूँसे लगाऊँ, तुझे डंडे से पीटूँ; अरे केशला, तू इधर तो आ, तेरी पूँछ पर नीबू।

'मूँछ पर नीबू तब रखे कि जब मूँछ हो ! इसे तो मूँछ नहीं है ; इसलिए पूँछ पर नीबू रखता है।'

मंगी खिलखिलाकर हँसी । परसोतम के गोरे और छोटे कपालवाले लम्बे मुँह पर भूरे रंग की छोटी और छिटके हुए बालोंवाली मूँछ नहीं के बराबर ही थी।

खेमी और मंगी दोनो, जोश में आकर गाने लगीं। इतने में उधर से परसोतम निकला। सिर पर बालदार टोपी थी। कुछ बाहर निकली हुई कमीज पर काला हाफ़-कोट पहने था। हाथ में एक पतली छड़ी थी, जिसे अपने जूतों पर चमचमाता हुआ, वह चला आ रहा था। उसने गीत सुना। इस गीत में उसका नाम नहीं था। किसी प्रत्यक्ष में उससे कुछ कहा भी न था, फिर काव्य-विवरण के किसी गूढ़ नियम से वह समझ चुका था कि गीत उसको ध्यान में रखकर गाया जा रहा है। जीवन के किसी भी क्षेत्र की अपेक्षा चिढ़ाने में 'अक्लमन्द को इशारा काफ़ी' से ज़्यादा हो जाता है। उसने चिल्लाकर कहा—ओ हरामजादियो ! काम करो, काम, नाहक गला क्यों फाड़ रही हो ?

मंगी खिसिया गई ; लेकिन खेमी ने जवाब दिया—गाती हैं, तो क्या हुआ, देखते नहीं हो, हाथों से काम जो हो रहा है !

'हरामखोर कहीं की, मेरे मुँह लगती है ! अपने अफ़सर का अपमान करती है !'

'लेकिन कौन कहता है कि मैं आपका गीत गा रही हूँ !'

'क्या मैं नहीं समझता कि तू सारे गाँव में गाती फिरती है और मेरा अपमान करती है ?'

मंगी की ओर भेद-भरी दृष्टि से देखकर खेमी बोली—सच कहना बहन, मैं कभी 'पशा भाई' का गीत गाती भी हूँ ! मैं तो उस केशले का गीत गाती हूँ, जो अहमदाबाद में भंगियों के पैसे खाया करता था।

'देखो हरामज़ादी उलटा मुझे समझाने चली है ? अपने अफ़सर

का अपमान करती है ? देखती नहीं, हम अपने अफ़सर की कितनी इज्जत करते हैं ? एक तू है कि मुँह लगती है और बढ़-बढ़कर बोलती है !'

'लेकिन भाई सा'ब...'

'बस रहने दे, ज़्यादा बक बक न कर। हमें और भी तो काम है। इस पर अँगूठा लगा कि तनख्वाह दे दूँ।'

उसने पास के चौतरे पर रजिस्टर रख दिया। मंगी के अँगूठा लगा चुकने पर उसने खेमी से अँगूठा लगाने को कहा।

'पहले मुझे पगार दो, फिर मैं अँगूठा लगाऊँगी।'

'तो क्या तू साहूकार और सरकार चोर है ? जैसा सरकारी नियम है, वैसा ही होगा ! पहले अँगूठा लगा, फिर पगार ले।'

'अच्छा तो लो यह अँगूठा !'—कहकर और परसोतम को अँगूठा बताकर खेमी ने अँगूठा लगा दिया। परसोतम ने देखा तो ; लेकिन गुस्सा होने का वक्त उसके पास था नहीं। दोनों की तनख़्वाह में से आठ-आठ आने काटकर बाकी के साढ़े नौ-नौ रुपए उसने नीचे फेंके। मंगी ने अपने रुपए लिये।

खेमी ने कहा—पूरे पैसे दोगे तो लूँगी, वरना नहीं लूँगी।

'न ले तो मेरी बला से, रुपए ये पड़े हुए हैं ; मैं तो जाता हूँ।'

वह जा रहा था कि इतने में खेमी ने अपनी लम्बी झाड़ू सामने की दीवार से अड़ाकर रास्ता रोक लिया। बोली—ऐसे कैसे चले जाओगे ?

इतने में दूसरे हल्कों के भंगी वहाँ आ पहुँचे। परसोतम ने देखा कि इस वक्त खेमी से निपटना मुश्किल है, कुछ कम ज्यादा हुआ तो दूसरे भंगियों के सामने नीचा देखना पड़ेगा। उसने बात को समेटते हुए कहा—तो ले तेरे ये पैसे, वह अठन्नी वापस दे।

'पहले तुम रुपया दो, तब मैं अठन्नी दूँगी।'

परसोतम ने रुपया नीचे फेंका कि खेमी ने झाड़ू हटा ली और नीचे झुककर रुपए उठाने लगी। परसोतम ने फिर नीचे पड़ी हुई

अठन्नी माँगी।

'ज़रा खड़े तो रहो, मुझे बजा तो लेने दो।'

दूसरों की ओर देखकर वह रुपए बजाने लगी।

परसोतम ने फिर अठन्नी माँगी।

'मुझे तो अठन्नी नहीं दीखती।'—कहती हुई खेमी चल दी। परसोतम को नीचे झुककर धूल में से वह अठन्नी उठानी पड़ी।

भंगियों को आश्चर्य हुआ। वे मन-ही-मन खेमी का सम्मान करने लगे। खेमी ने गीत छेड़ा और सब भंगी मिलकर गाने लगे।

ओरो आव्य ने केशला, तारो ओशलो कूटूँ;
ओरो आव्य ने केशला, तने पाटुए पीटूँ;
ओरो आव्य ने केशला, तने धोकणे ढीबुँ;
ओरो आव्य ने केशला, तारे पूँछड़े लींबु;

क्या रास्ता चलते लोग और क्या स्टेशन से आनेवाले यात्री, सभी इस विचित्र गीत को सुनने के लिए खड़े रह गये। इतने में अचानक एक आवाज़ आई—अरी खेमी, ज़रा इधर तो आ।

खेमी ने तुरन्त गाना बन्द कर दिया और उस गली में देखा, जिधर से आवाज़ आई थी। वह उधर ही चली गई। उसकी सास उसको लिवाने आई थी।

धनियाँ और खेमी के पहले तीन दिन अकथनीय आनन्द और खान-पान में बीते। चौथे दिन रात को धनियाँ और खेमी बैठे बातें करने लगे। नड़ियाद में उसकी दिनचर्या, उसके गीत और दूसरे भंगियों के साथ उसके हँसी-मज़ाक की बातें सुनकर धनियाँ ने कहा—खेमी, तू है तो बड़ी कठोर! मैं यहाँ तड़प रहा था, और तू वहाँ मौज़ उड़ाती थी।

'अच्छा तो मुझे भी नहीं लगाता था रे; लेकिन जब तक तू बुलाये नहीं, मैं भला कैसे आती!'

'मैं तुझे किस मुँह से बुलाता रे ! मुझसे गुनाह क्या हो गया था, मेरे तो पैर ढीले पड़ गये थे। मा से मैंने कई बार कहा, और हरबार उसने यह कहकर टाल दिया कि एक-दो दिन में आ ही जायगी। रहेगी कितने दिन ; लेकिन तू तो ऐंठी हुई रस्सी निकली।'

'तेरा कसूर था, तुझी को बुलाना चाहिये था।'

'अरे पर भद्रकाली मा का साँच तो एक अजब चीज़ है।'

'सो कैसे ?'

'देख, पहले रामदे पीर की मन्नत मानी ; लेकिन तू न आई ; फिर हरखशा माता की मानी, झाँपड़ी माता की मानी फिर भी तू न आई। फिर भद्रकाली मा की मानी और जब घर आया तो मा कहने लगी— अरे भनियाँ, तू तो बिल्कुल सूखता जा रहा है रे ! चल तुझे दूसरी बहू ला दूँ। मैंने कहा—मुझे दूसरी नहीं चाहिये। आये तो खेमी आये ; नहीं तो कोई न आये। फिर तो मेरी मा तुझे लिवाने गई।'

'मैंने भी मन्नतों पर मन्नतें मानीं, तब कहीं तेरी मा मुझे लिवाने आई।'

'तैंने किस-किस की मानी थी ?'

'मैंने भी रामदे पीर की मानी। फिर नड़ियाद के सन्तदास महाराज का थाल माना। फिर महाकाली की जात्रा मानी।'

'अर्र्र्र्र् खेमी !'—भनिया पर मानो वज्रपात-सा हुआ—तू ने बुरा किया। तेरी मन्नतों के साठ रुपए हुए, और मेरे पचास ! ब्याह के दो-ढाई सौ अभी सिर पर हैं, और वह पहले का बच्चा दम नहीं लेने देता है। इतना देना हम कब चुका पायेंगे ! और भद्रकाली मा तो हाजरा-हजूर है !—यह निश्चय न होने से कि किस देव की मन्नत से दोनो फिर मिले थे, सभी की मन्नतें चढ़ाना लाज़िमी हो गया था।

'सो कौन बड़ी बात ! चार सौ रुपए तो अभी अदा हो जायँगे। मेरे गहने बेचकर अदा कर देना।'—खेमी ने हिम्मत बँधाते हुए कहा।

'अरे हाँ, और पंचों के जुरमाने की बात तो मैंने तुझ से कही भी नहीं !'

हमारे समाज में ऊँच और नीच जातियों की अनन्त श्रेणियाँ हैं और हर एक जाति चाहती है कि उससे नीची कोई जाति और हो। अहमदाबाद के भंगी कठियावाड़ के प्रवासी भगियों को अपने से नीचा समझते थे। बेचारे धनियाँ को अपने ब्याह में दोनो पंचों को जिमाना पड़ा था। खेमी के चले जाने पर कठियावाड़ी पंच फिर इकट्ठा हुए। उन्होंने आपस में कुछ सलाह की। फिर अहमदाबाद के पंचों से बात की और इकट्ठे हुए। इतने में खेमी लौट आई। अब जुरमाने का तो कोई सवाल नहीं रहा ; पर पंचों ने इतने दिन मिलकर जो खाया उसका बिल धनियाँ के माथे आया। हमारे समाज में जाति की रूढ़ियाँ और पंचों के निर्णय प्राकृतिक घटनाओं की तरह अनिवार्य और अप्रतिरोध्य माने जाते हैं।

यह सब सुनकर खेमी भी चौंक पड़ी। फिर भी उसने धनियाँ को धीरज बँधाया। जब वह पुरुष को हिम्मत हारते देखती तो उसमें एक अजीब-सी हिम्मत आ जाती।

किन्तु धनियाँ को इन बातों से तसल्ली न हुई। वह हताश होकर खेमी की गोद में सिर रखकर सो गया। खेमी भी फिकर-ही-फिकर में सो गई। तीन दिन का सुख भोगकर यह दम्पती फिर दुखी संसार में डूब गया।

दूसरे दिन खेमी ने अपने गहने निकाल दिये और कहा—जाओ, इन्हें बेच डालो। किन्तु धनियाँ पत्नी को आभूषण-हीन देखने विचार-मात्र से काँप उठा। उसने बेचने के बदले गहने गिरवीं रखे और रुपए निकाले। अगर वह बेच देता, तो उसे अच्छी रकम मिल जाती। गिरवीं रखने से एक तो रुपए कम मिले और ब्याज में गहने भी डूब गये। न धनियाँ इसे समझ पाया, न खेमी। दोनो ने अपने

भरसक पैसे बचाने और भरने शुरू किये। इस बीच धनियाँ की मा मर गई, जिसमें उसके सौ रुपए और खर्च हो गये। तीन महीनों बाद खेमी जच्चा बनी और उसकी कमाई रुक गई। इन दिनों धनियाँ को खेमी का आश्वासन कम मिला और अपनी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए वह मदिरा का सेवन करने लगा।

जब खेमी प्रसूतिगृह से निकली, तो उसने देखा कि धनियाँ फिर पीने लगा है। उसने धनियाँ को धमकाया ; किन्तु अब उसकी धमकी में तिरस्कार नहीं, दया थी। वह महसूस करती थी कि धनियाँ की इस दशा के लिए वह खुद ही जिम्मेदार है। फिर भी एक दिन दिल कड़ा करके उसने धनियाँ को आड़े हाथों लिया। धनियाँ कुछ न बोला ; किन्तु उस दिन रात को वह लौटकर घर न आया। खेमी उसे ढूँढ़ने निकली और रीची रोड के फुट-पाथ पर से उठाकर घर ले गई। वह धनियाँ को बहुतेरा समझाती ; किन्तु धनियाँ उसकी प्रत्येक बात का जवाब एक गहरी उसाँस से देता। अब तो खेमी का दिल भी रोने लगा था। उसमें वह कठोरता ही न रही, जो धनियाँ को सिखावन देती।

जाड़ों के दिन थे। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। धनियाँ उस दिन रात को घर नहीं आया। खेमी अपनी दो बरस की बच्ची को घर में रोती छोड़कर और दरवाज़ा बन्द करके उसे ढूँढ़ने निकली। दो घण्टों की टोह के बाद धनियाँ उसे नदी की रेत में पड़ा मिला। खेमी ने उठाया और धीरे-धीरे उसे लेकर घर आई। दूसरे दिन धनियाँ को निमोनिया हो गया। खेमी ने फिर मन्नतें मानीं। ओझा को बुलाया, उसने और नई मन्नतें बताईं ; लेकिन खेमी का धनियाँ फिर खड़ा न हुआ। खेमी विधवा हो गई !

वैधव्य के शोक ने खेमी के सारे जीवन को व्याप लिया। सबसे बड़ा दुःख तो उसे इस बात का था कि धनियाँ अधूरी मन्नतें छोड़कर गया था। रह-रहकर उसे यह डर सताया करता कि न जाने उसकी

आत्मा को क्या-क्या कष्ट सहने पड़ेंगे। वह घबराती थी ; किन्तु कोई उपाय उसे सूझता न था।

एक दिन खेमी रीची रोड झाड़ रही थी। अब वह चुँदरी की गाँठ नहीं बाँधती थी। झाड़ते-झाड़ते उसे धनियाँ की मन्नतों के विचार आने लगे। इतने में उसने देखा कि सामने एक चौतरे पर एक ब्राह्मण बैठा हुआ है। वह माथे पर एक बड़ा-सा त्रिपुंड लगाये था। त्रिपुण्ड के बीच में एक मोटी बिन्दी थी और नाक पर एक काली पतली रेखा। सिर पर उसके दक्षिणी पगड़ी थी, हाथ के पहुँचे पर रुद्राक्ष का मणि-बन्ध, और गले में रुद्राक्ष की माला थी। भू-देवता ने चौतरा साफ़ करके उस पर एक आसन बिछाया, सामने पट्टी, पेन, हाथ के रेखा-दर्शक चित्र, पंचांग, और पंचांग पर रमल के पासे सजाये। खेमी उन्हें देखकर उनके पास पहुँची। उसे आते देखकर भू-देवता ने सहज सनातन तिरस्कार से दूर रहने को कहा। खेमी बोली—महाराज, मुझे एक प्रश्न पूछना है ? 'अच्छी बात है। नीचे सीढ़ी पर एक चवन्नी रख दे।' महाराज के लिए खेमी की परछाईं भी अपवित्र थी ; किन्तु उसकी चवन्नी अपवित्र न थी। खेमी ने चवन्नी रखी, महाराज ने उस पर पानी छिड़का और उठाया। फिर बोले—पूछ, क्या पूछती है ?

'महाराज, किसी का पति मन्नतों के साथ मर जाय और उसकी घरवाली उन मन्नतों को पूरी करे, तो मरनेवाले को वे पहुँचेंगी या नहीं ? अच्छी तरह देखना, महाराज !'

अँगुली के पोर गिनते हुए महाराज ने कहा—हाँ, पहुँचेंगी।

'अच्छा महाराज।'—कहकर जब खेमी जाने को हुई, तो महाराज ने फिर बुलाकर उससे कहा—अगर 'नातरा' करोगी, तो नहीं पहुँचेंगी।

खेमी ने दूर से पैर छुये और चल दी। अब वह मन्नतें पूरी करने के लिए पैसे बचाने लगी। खेमी का तेज घट चुका था ; किन्तु सौंदर्य उसका कम न हुआ था। बहुतेरे भंगियों ने 'नातरे' के लिए उसके

पास सन्देशे भेजे। सब को उसका एक ही जवाब था, जब तक भनियाँ की मन्नतें अधूरी हैं, वह नातरा नहीं कर सकती। एक भङ्गी ने मन्नतों के लिए नक़द रुपए देने की बात कही; किन्तु खेमी ने उसे भी इनकार कर दिया। उसने निश्चय किया था कि वह अपने पसीने की कमाई से भनियाँ की मन्नतें पूरी करेगी।

सात बरस बाद कहीं वह भनियाँ की मन्नतें पूरी कर पाई। एक भंगी ने फिर उसे कहलवाया कि अब भी घर बसा ले। उसने जवाब दिया—नहीं नहीं, इतने बरसों के बाद अब इस जीवन में पैबन्द नहीं लगने दूँगी।

पोस्ट-आफिस

पिछली रात्रि का धूमिल आकाश छोटे-मोटे तारों से इस प्रकार चमक रहा था, जिस प्रकार मानव-जीवन में सुखद स्मृतियाँ चमकती रहती हैं। शीतकालीन, बरफ की तरह ठंडी हवा के झकोरों से बचने के लिए अपने शरीर से फटे और पुराने अँगरखे को भलीभाँति लपेटता हुआ, एक वृद्ध शहर के मध्य भाग से होकर जा रहा था। स्वतंत्र जीवन का भोग करनेवाले अनेक घरों से इस समय घण्टी की मधुर ध्वनि — स्त्रियों के धीमे स्वर के साथ शहर की एकान्त रात्रि में —इस

प्रकार वृद्ध के साथ-साथ आ रही थी, जैसे उसकी सहायक हो। कुत्तों की आवाज़, दूर से सुनाई देता हुआ किसी जल्दी उठनेवाले का पद्-रव, या असमय जागे हुए किसी पक्षी का स्वर ही धीमे धीमे सुनाई दे रहा था, इसके सिवा शहर में बिल्कुल शान्ति थी। लोग मीठी नींद में सो रहे थे और शीतकाल की ठण्ड से रात्रि अधिक गाढ़ बनती जा रही थी। 'मुख में राम बगल में छुरी' वाले स्वभाव के मनुष्य की तरह शीतकाल की ठंड, तीक्ष्ण शस्त्र की भाँति सर्वत्र अपना स्वत्व प्रसारित करती जा रही थी। वृद्ध काँपता हुआ, शान्त-भाव से क़दम बढ़ाता हुआ, शहर के दरवाज़े से बाहर होकर, एक सीधी सड़क पर आ पहुँचा और धीरे-धीरे अपनी पुरानी लाठी के सहारे आगे बढ़ा।

एक ओर वृक्षों की कतार थी और दूसरी ओर शहर का बग़ीचा। यहाँ सर्दी ज्यादा थी और रात्रि अधिक त्रासदायिनी मालूम होती थी। हवा तेज चल रही थी। और शुक्र के तारे का मधुर-मन्द प्रकाश पृथ्वी पर बरफ़ की तरह फैला हुआ था। जहाँ बग़ीचे का सिरा था, वहाँ बिल्कुल नये ढंग का एक रौनक़दार मकान बना हुआ था। उसकी बन्द खिड़कियों और दरवाज़ों से दीपक का प्रकाश बाहर आ रहा था।

जिस प्रकार भावुक मनुष्य भगवान के मन्दिर का शिखर देखकर श्रद्धा से आनन्दित हो जाता है, उसी प्रकार वृद्ध इस मकान की महराब को देखकर आनन्दित हो गया। महराब पर लगे हुए एक पुराने साइनबोर्ड पर नये अक्षर लिखे थे—पोस्ट-आफिस।

बूढ़ा, पोस्ट-आफिस के बाहर चबूतरे पर बैठ गया। अन्दर से कोई विशेष आवाज़ नहीं आ रही थी। केवल पारस्परिक बातों की साधारण ध्वनि सुन पड़ रही थी, जैसे काम में लगे हुए चार-छः आदमी बातें कर रहे हों।

'पुलिस सुपरिन्टेन्डेट !'—अन्दर से आवाज़ आई। बूढ़ा चौंका ; पर पुनः शान्त होकर बैठ रहा। आशा और स्नेह, इस ठण्ड में भी

उसे उष्णता दे रहे थे।

अन्दर से आवाज़-पर-आवाज़ आने लगी। शार्टर, अँग्रेज़ी पत्रों के पते पढ़-पढ़कर पोस्टमैन की ओर फेंक रहा था।

कमिश्नर, सुपरिन्टेन्डेन्ट, दीवान साहब, लायब्रेरियन — इस प्रकार, एक के बाद एक अनेक नाम बोलने का अभ्यासी शार्टर तेज़ी से चिट्ठियाँ फेंकता जा रहा था।

इतने में अन्दर से एक विनोद-पूर्ण आवाज़ आई — कोचवान अली बाबा।

वृद्ध उठ खड़ा हुआ। श्रद्धा से आकाश की ओर देखा और आगे बढ़कर दरवाज़े पर हाथ रखा।

'गोकुल !'

'कौन है ?'

मेरी चिट्ठी है न ?...मैं आया हूँ !'

उत्तर में निष्ठुर व्यङ्ग-पूर्ण हास्य सुनाई दिया।

'बाबूजी, यह एक पागल बुड्ढा है। यह हमेशा अपनी चिट्ठियाँ लेने के लिए पोस्ट-आफिस में धक्के खाने आया करता है।'

शार्टर ने यह शब्द पोस्ट-मास्टर से कहे। इतने में बूढ़ा पुनः अपने स्थान पर जा बैठा। पाँच वर्षों से इस स्थान पर बैठने का इसे अभ्यास हो गया था।

पहले अली, एक होशियार शिकारी था। धीरे-धीरे इस अभ्यास में वह इतना कुशल हो गया, कि जिस प्रकार अफ़ीमची बिना अफ़ीम के नहीं रह सकता, उसी प्रकार वह शिकार के बिना नहीं रहता था। मिट्टी के ढेलों के साथ मिट्टी बने हुए, चितकबरे तीतर पर जहाँ अली की दृष्टि पड़ी, कि वह तुरन्त उसके हाथ में आया। उसकी तीक्ष्ण दृष्टि खरगोश की खोह में जा पहुँचती। आसपास के सूखे, भूरे, पीले घास में छिपकर स्थिर कान करके बैठे हुए चतुर खरगोश के भूरे, पीले रंग

को कभी-कभी शिकारी कुत्ते भी न देख सकते, वे आगे बढ़ जाते और खरगोश बच जाता ; परन्तु इटली के गरुड़ की-सी अली की तीक्ष्ण दृष्टि ठीक खरगोश के कान पर जाकर ठहरती और दूसरे ही क्षण वह ढेर हो जाता। कभी-कभी अली, मछुओं का मित्र भी बन जाया करता।

परन्तु जब जीवन-सन्ध्या निकट आती जान पड़ी, तब यह शिकारी अचानक दूसरी दिशा की ओर मुड़ गया। इसकी इकलौती बेटी मरियम, विवाहिता होकर ससुराल गई। इसका जामाता फौज़ में नौकरी करता था, इस कारण वह उसके साथ पंजाब की ओर चली गई थी और जिसके लिए अली, जीवन धारण किये हुए था, आज पाँच वर्ष हुए, उसका कोई समाचार नहीं मिला था! अब अली को मालूम हुआ कि स्नेह और विरह क्या चीज़ है। पहले वह तीतर के बच्चों को आकुल-व्याकुल दौड़ते देखकर हँसता था। यह उसका—एक शिकारी का आनन्द था।

शिकार का आनन्द उसकी नस-नस में व्याप्त हो गया था ; परन्तु जिस दिन मरियम चली गई और उसे जीवन में सूनापन मालूम हुआ, उस दिन से अली शिकार करना भूलकर स्थिर दृष्टि से, धान उगे हुए हरे खेतों की ओर देखा करता! उसे जीवन में पहली बार मालूम हुआ, कि प्रकृति में स्नेह की सृष्टि और विरह के आँसू हैं। इसके बाद एक रोज़, अली एक ढाक के पेड़ के नीचे बैठकर, जी खोलकर रोया। उस रोज़ से वह प्रतिदिन सवेरे चार बजे उठकर इस पोस्ट-आफिस में आया करता। उसके नाम की चिट्ठी तो कभी आती नहीं ; पर मरियम की चिट्ठी एक दिन अवश्य आयेगी, इस प्रकार भक्त की-सी श्रद्धा और आशा-पूर्ण उल्लास में वह प्रतिदिन सबसे पहले पोस्ट आफ़िस में आ बैठता।

पोस्ट-आफ़िस—शायद संसार का सबसे अधिक निरस स्थान—उसका धर्मक्षेत्र या तीर्थ-स्थान बन गया। एक ही स्थान पर और एक ही कोने में वह हमेशा बैठता। उसकी दशा का ज्ञान हो जाने पर सब

लोग उसका मज़ाक उड़ाते और कभी-कभी चिट्ठी न होने पर भी मजाक में उसका नाम लेकर, बैठने के स्थान से पोस्ट-ऑफ़िस के दरवाज़े तक दौड़ाते। अखण्ड श्रद्धा और अनन्त धैर्य से वह प्रतिदिन आता और खाली हाथ लौट जाता।

अली बैठा हुआ था, इतने में एक के बाद एक चपरासी अपने-अपने आफ़िसों की चिट्ठियाँ लेने के लिए आने लगे। इस बीसवीं सदी में अधिकतर चपरासी, आफ़िसरों की स्त्रियों के घरू व्यवस्थापक-से होते हैं, इसलिए सारे शहर के आफ़िसरों का घरू इतिहास, इस समय पढ़ा जा रहा था।

किसी के सिर पर साफ़ा, किसी के पैरों में चमचमाते हुए जूते—इस प्रकार सभी अपना-अपना विशिष्ट भाव प्रदर्शित कर रहे थे। इतने में दरवाज़ा खुला। दीपक के उजाले में, सामने की कुर्सी पर, तूँबे का-सा सिर और सर्वदा का दुःख-पूर्ण उदासीन-सा चेहरा लिये पोस्ट-मास्टर बैठे थे। जिसके कपाल पर, मुँह पर, या आँखों में तेज नहीं होता, वह मनुष्य अधिकतर गोल्डस्मिथ का 'विलेज-स्कूल-मास्टर' या इस सदी का क्लर्क या पोस्ट-मास्टर होता है।

अली, अपनी जगह से हटा नहीं।

'पुलीस कमिश्नर।'—क्लर्क ने आवाज़ दी और एक अभिमानी युवक ने पुलीस-कमिश्नर का पत्र लेने के लिए हाथ बढ़ाया।

'सुपरिण्टेण्डेण्ट।'

एक दूसरा चपरासी आगे आया!—इसी प्रकार इस सहस्र-नामा-वली का, यह शार्टर, विष्णु-भक्त की तरह रोज पारायण कर लिया करता था।

अन्त में सब चले गये। अली उठा और पोस्ट-आफिस को प्रणाम करके चला गया—एक सदी पहले का देहाती! मानो उसमें कोई चमत्कार है।

'यह पागल है क्या ?'—पोस्ट-मास्टर ने पूछा ।

'जी, कौन ?—अली ? हाँ बाबूजी, पाँच वर्षों से यह बराबर पत्र लेने आता है—चाहे कोई भी ऋतु क्यों न हो । इसका पत्र शायद ही कभी आता है ।'—क्लर्क ने उत्तर दिया ।

'कोई बेकार थोड़े ही रहता है । हमेशा चिट्ठी कौन लिखे ?'

'बाबूजी, इसका तो दिमाग़ ही खराब हो गया है । यह पहले बड़ा अनाचार किया करता था । एक बार इसने किसी देवस्थान में कोई पाप कर डाला । उसी का फल भोग रहा है !'—पोस्टमैन ने कहा ।

'पगले बड़े विचित्र होते हैं ।'

'जी हाँ, अहमदाबाद में मैंने एक बार एक पागल को देखा था । वह सारे दिन धूल का ढेर लगाया करता था ; बस, और कुछ नहीं । एक पागल को हमेशा सन्ध्या के समय नदी के किनारे जाकर एक पत्थर पर पानी डालने की आदत थी ?'

'अजी, एक पागल को ऐसी आदत थी कि वह सारे दिन इधर-उधर घूमा करता था ! एक दूसरा पागल हमेशा एक गीत गाया करता ! और एक तो ऐसा था कि वह अपने ही हाथ से अपने गाल पर चपतें लगाया करता और फिर यह समझकर रोने लगता कि कोई दूसरा आदमी उसे मार रहा है !'

आज पोस्ट-आफिस में पागलों का पुराण उपस्थित हो गया था ! हमेशा इसी प्रकार एकाध किस्सा छेड़कर उस पर दस-पाँच मिनिट बातें करके दिल बहलाने और आनन्द लेने की प्रायः सभी नौकरों को आदत पड़ गई थी—शराब की आदत की तरह । अन्त में पोस्ट-मास्टर उठ खड़े हुए और जाते-जाते बोले—इन पागलों की भी एक दुनिया मालूम होती है ! यह पागल, हम लोगों को पागल समझते होंगे और कदाचित् इनकी सृष्टि, कवि की सृष्टि के समान होगी ।

अन्तिम शब्द बोलते हुए पोस्ट-मास्टर हँसकर चले गये । एक

क्लर्क, समय मिलने पर कभी-कभी कविताएँ रच लिया करता था ; इसीलिए उसे सब चिढ़ाते थे। पोस्ट-मास्टर ने भी अन्तिम वाक्य इसीलिए, हँसते हँसते, उसकी तरफ़ मुड़कर कहा था। पोस्ट-आफिस पहले-जैसा ही शान्त बना रहा।

एक बार बूढ़ा अली दो-तीन दिन तक नहीं आया। अली के हृदय को समझ लेनेवाली सहानुभूतिपूर्ण विशाल दृष्टि, पोस्ट-आफिस के किसी आदमी में न थी ; पर वह आया क्यों नहीं, इस पर सभी को कौतूहल हुआ। बाद में अली आया ; पर उस दिन वह हाँफ रहा था और उसके चेहरे पर जीवन-सन्ध्या के स्पष्ट चिह्न थे।

आज अली ने अधीर होकर पोस्ट-मास्टर से पूछा—बाबू साहब, मेरी मरियम की चिट्ठी आई ?

पोस्ट-मास्टर उस दिन गाँव जाने की जल्दी में थे और उनका मस्तिष्क इतना शान्त न था, कि इस नवीन प्रश्न को सहन करता।

'न जाने तुम कैसे आदमी हो !'

'मेरा नाम अली है।'— अली का असंबद्ध उत्तर मिला।

'ठीक है ; पर यहाँ तुम्हारी मरियम का नाम किसी ने लिख रखा है क्या ?'

'लिख लीजिये न साहब ! शायद किसी समय पत्र आये और मैं यहाँ न होऊँ, तो आपको परेशान होना पड़े !'

जिसकी पौन ज़िन्दगी शिकार में बीती हो, उसे क्या मालूम कि मरियम का नाम उसके पिता के सिवा दूसरे के लिए दो कौड़ी मूल्य का है !

पोस्ट-मास्टर गरम हो उठे—पागल तो नहीं हो गया है, जा यहाँ से ! तेरी चिट्ठी आयेगी, तो कोई खा नहीं जायेगा !

पोस्ट-मास्टर शीघ्रता से चले गये और अली धीमी चाल से बाहर निकला। बाहर होते-होते एक बार घूमकर पोस्ट-आफ़िस की ओर देखा ! आज उसके नेत्रों में अनाथों के-से आँसू झलक रहे थे। अद्भुत

थी ; पर धैर्य का अन्त हो गया था। ओह ! अब मरियम की चिट्ठी कैसे पहुँचेगी !

एक क्लर्क उसके पीछे आता मालूम हुआ। अली उसकी ओर घूमा।

'भैया !'

क्लर्क चौंका ; पर वह सज्जन था।

'क्यों ?'

'देखो, यह मेरे पास है !'—इतना कह उसने अपने पास की एक पुरानी डिबिया से पाँच गिनियाँ निकालीं। क्लर्क चौंक पड़ा।

'चौंको मत। तुम्हारे लिए यह बड़े काम की है। मेरे लायक अब यह नहीं रहीं ; पर एक काम करोगे ?'

'क्या ?'

'वह ऊपर क्या दीखता है ?'—अली ने शून्य आकाश की ओर अँगुली उठाई।

'आकाश !'

'ऊपर अल्लाह है। उसकी साक्षी में मैं तुम्हें ये गिनियाँ देता हूँ। मेरी मरियम की चिट्ठी आये, तो तुम पहुँचा देना !'

क्लर्क आश्चर्य से खड़ा हो गया, पूछा—कहाँ ! कहाँ पहुँचाना होगा ?'

'मेरी क़ब्र पर !'

'एं !'

'सच कहता हूँ। आज मेरा आख़िरी दिन है ! ओह आख़िरी ! मरियम न मिली—चिट्ठी न मिली !'

अली की आँख में एक नशा था। क्लर्क धीरे-धीरे उसके पास से हटकर चला गया। उसकी जेब मे तीन तोला सोना पड़ा था।

×　　　×　　　×

इसके बाद अली कभी दिखलाई नहीं दिया। और, उसका पता लगाने की चिन्ता भी किसी को नहीं थी। एक दिन पोस्ट-मास्टर जरा

खिन्न थे। उनकी लड़की देश में बीमार थी और उसके समाचार की प्रतीक्षा में वे शोक-मग्न बैठे थे।

डाक आई और चिट्ठियों का ढेर लग गया। एक लिफाफे को अपना समझकर पोस्ट-मास्टर ने शीघ्रता से उसे उठा लिया ; पर उस पर पता लिखा था— कोचवान अलीबाबा।

उन्हें बिजली का धक्का-सा लगा हो इस प्रकार उन्होंने चिट्ठी को नीचे फेंक दिया। शोक और चिन्ता के आधिपत्य में, कुछ क्षण के लिए उनका अफ़सर का-सा कठोर स्वभाव जाता रहा और मानव-स्वभाव बाहर आया। उन्हें सहसा स्मरण हो आया कि यह उसी बूढ़े की चिट्ठी है और कदाचित् उसकी लड़की मरियम की भेजी हुई है।

'लक्ष्मीदास!'— पोस्ट-मास्टर ने आवाज़ दी।

लक्ष्मीदास उसी आदमी का नाम था, जिसे अली ने उस दिन गिनियाँ दी थीं।

'जी, कहिये!'

'यह तुम्हारे कोचवान अली बाबा!...आज-कल कहाँ है वह?'

'तलाश करूँगा।'

उस दिन पोस्ट-मास्टर की लड़की का समाचार न आया। सारी रात उन्होंने शंका में बिताई। दूसरे दिन प्रातःकाल तीन बजे वे आफिस में बैठे थे। चार बजे अली आयेगा, और मैं अपने हाथ से उसे यह पत्र दूँगा—आज यही उनकी इच्छा थी।

अली बाबा की स्थिति अब पोस्ट-मास्टर समझ गये थे। आज रात उन्होंने सबेरे आनेवाली चिट्ठी के ध्यान में बिताई थी। पाँच वर्ष तक ऐसी अखण्ड रात्रियाँ बितानेवाले के प्रति आज उनका हृदय पहली ही बार सहानुभूति से पूरित हुआ था। ठीक पाँच बजे किसी ने द्वार थपथपाया। पोस्टमैन अभी तक नहीं आये थे ; पर ऐसा मालूम हुआ कि अली ने द्वार थपथपाया है। पोस्ट-मास्टर उठे। पिता के हृदय

की पीड़ा का अनुभव करके, आज वह झपटे और द्वार खोल दिया।

'आओ भाई अली, यह लो तुम्हारी चिट्ठी !' दरवाजे पर एक दीन बूढ़ा, लकड़ी के सहारे झुका हुआ खड़ा था। अन्तिम आँसुओं की बूँदें अभी उसके गालों पर ताज़ी थीं और चेहरे की झुर्रियों में, कठोरता के रंग पर, सज्जनता का ब्रुश फिरा हुआ था।

उसने पोस्ट मास्टर की ओर देखा और पोस्ट-मास्टर ज़रा चौंक पड़े। वृद्ध की आँखों में मनुष्य का तेज न था !

'कौन है बाबूजी अली है क्या ?'—लक्ष्मीदास एक ओर से आकर द्वार के पास खड़ा हो गया।

पोस्ट-मास्टर उस ओर लक्ष्य न देकर द्वार ही की ओर देखते रहे। पर वहाँ कोई न दिखाई दिया। आश्चर्य से उन्होंने आँखें फाड़ दीं ! दरवाज़े पर कोई भी नहीं है, यह क्या ? वे लक्ष्मीदास की ओर घूमे !

'हाँ, अली बाबा। कौन, तुम हो ?

'जी, अली बाबा मर गया ! पर उसकी चिट्ठी मुझे दीजिये।'

'ऐं ! कब मर गया ? सच कहते हो लक्ष्मीदास ?'

'जी हाँ, इस बात को तो प्राय तीन महीने हो गये।'—सामने से एक पोस्टमैन आ रहा था, उसी ने यह उत्तर दिया।

पोस्ट-मास्टर दिग्मूढ़-से हो गये। मरियम की चिट्ठी अभी दरवाज़े में ही पड़ी थी। अली की मूर्ति उनकी दृष्टि के सम्मुख खड़ी हो गई। लक्ष्मीदास से आखिरी दिन अली किस प्रकार मिला था, यह भी उसने कह सुनाया। पोस्ट-मास्टर के कानों में द्वार की थपथपाहट और दृष्टि के समक्ष अली की मूर्त्ति आ खड़ी हुई। उनका हृदय भ्रम में पड़गया— मैंने अली को देखा है, या वह केवल भ्रम था, अथवा वह लक्ष्मीदास था ?

पुन: नित्य का नियम प्रारम्भ हुआ—'पुलिस कमिश्नर ! सुपरिण्टेण्डेण्ट ! लायब्रेरियन !'—शार्टर शीघ्रता से चिट्ठियाँ फेंकता जाता था।

पर प्रत्येक चिट्ठी की ओर आज पोस्ट-मास्टर इस प्रकार एकटक

देख रहे थे, मानो उसमें धड़कता हुआ हृदय हो। लिफाफा चार पैसे का है और कार्ड दो पैसे का, यह विचार आज गायब हो गया। ठेठ अफ्रीका से, किसी विधवा के एकलौते लड़के का पत्र आये, इसके क्या मानी? पोस्ट-मास्टर बहुत गम्भीर होते जा रहे थे।

मनुष्य अपनी दृष्टि त्यागकर दूसरे की दृष्टि से देखे, तो आधा जगत् शान्त हो जाय।

× × ×

उस दिन सन्ध्या को लक्ष्मीदास और पोस्ट-मास्टर धीमे-धीमे अली की कब्र की ओर जा रहे थे। मरियम की चिट्ठी उनके पास ही थी। कब्र पर चिट्ठी रखकर लक्ष्मीदास और पोस्ट-मास्टर लौट पड़े।

'लक्ष्मीदास, क्या आज सुबह तुम्हीं सबसे पहले आये थे?'

'जी हाँ।'

'और तुम्हीं ने कहा था—अली बाबा...'

'जी हाँ।'

'पर—तब...तब...समझ में नहीं आया कि...'

'क्या?'

'हाँ, ठीक है...कुछ नहीं।' पोस्ट-मास्टर ने शीघ्रता से बात पलट दी। पोस्ट-आफ़िस का चबूतरा आते ही पोस्ट-मास्टर लक्ष्मीदास से अलग होकर विचार करते हुए अन्दर चले गये। उनका पितृ-हृदय अली को न समझ सका, इसके लिए उनके हृदय में वेदना थी। और, आज भी अभी तक लड़की का समाचार नहीं आया था; इसलिए पुनः समाचार की चिन्ता में रात्रि बितानी थी। आश्चर्य, शंका और पश्चात्ताप के त्रिविध ताप से जलते हुए, वे अपने आफ़िस में बैठ गये और निकट रखी हुई अँगीठी में से कोयले की धीमी आँच उनकी ओर आने लगी।

सुहिणी-मेहार

सिन्धु के तट पर छाती-ढाँप उगी हुई घास में कुछ भैंसें चर रही थीं और उनका नौजवान चरवाहा पेड़ की घटा में बैठा हुआ बाँसुरी बजा रहा था। उसका असली नाम साहाड़ था; लेकिन गाँव में न तो किसी को उसके वतन का पता था, न कोई उसके माता-पिता से परिचित था। लोग उसे मेहार कहते थे, मेहार से मतलब था— भैंसों का चरवाहा। मेहार के मालिक की लड़की सुहिणी अकसर उसे 'बे बाप का' कहकर उलाहने दिया करती और सुहिणी के मुँह से निकले

हुए ये टेढ़े बैन मेहार को बडे मीठे लगते थे।

सुहिणी के पिता तोलाजी जाति के कुम्हार थे।

दुपहरी चटक रही थी। मेहार सिन्धु के किनारे पेड़ की घटा में बैठा बाँसुरी बजाने में लीन था। इतने में शीशे की तरह मँजी हुई एक दोहनी को हाथों में उछालती सुहिणी वहाँ आ पहुँची और 'मेहार ! ओ मेहार !' कहकर फिर-फिर उसे पुकारने लगी।

कुछ देर तो मेहार ने सुना ही नहीं—बाँसुरी की तान में वह इतना बेभान था। भान तो उसे तब आया, जब डाल पर से लटकते हुए उसके पैरों को सुहिणी ने खींचकर झकझोरा।

'अब उतरेगा भी ? या पैर पकड़कर खींच लूँ ?'

मेहार शरमा गया। झट से कूद पड़ा और चरवाहे का-सा रोब गाँठकर बोला—आखिर बात क्या है, जो यों बेवक्त आकर नाराज़ हो रही हो ?

'घर पर मेहमान आये हुए हैं—उनके लिए जल्दी से किसी भैंस के दो थन दुह दे।'

'लेकिन भैंसे तो बड़ी दूर निकल गई हैं। तुम जाओ और उन्हें लौटा लाओ !'

'मैं क्यों जाऊँ ? जाय मेरी बला ! पटेल की बेटी भैंस लौटाने जायगी, क्यों ? तो फिर बाबा ने तुझे क्यों रखा ? गद्दी पर बैठाकर पूजने के लिए ? जा, फौरन् भैंसें ला ; वरना रात को खाना न मिलेगा।'

मेहार ने चारों ओर नज़र दौड़ाई ; किन्तु भैंसें कहीं हों तब न ? वे तो घास में न जाने कहाँ छिपी चर रही थीं !

सुहिणी ने कहा—'बाँग' क्यों नहीं देता ? जहाँ होंगी, वहाँ से अभी निकल आयेंगी।

मेहार सिर खुजलाते हुए बोला—मैं नहीं जानता, 'बाँग' कैसे दी

जाती है !

'जानत है रे, तुझपर ! चरवाहा होकर 'बाँग' देना नहीं जानता ? तो फिर चरवाहा बना ही क्यों ? डूब क्यों नहीं मरता !'

इतना कहकर सुहिणी ने खुद ही अपने कानों में अँगुली डाली और मोरिनी की तरह दूर तक सुनाई पड़नेवाली, एक लम्बी-सी आवाज में कूक उठी। थोड़ी ही देर में ऊँची-ऊँची घास के अन्दर से रँभती और दौड़ती हुई सब भैंसें उसके निकट आ पहुँचीं, और उसे घेरकर खड़ी हो गईं।

'ले, अब जल्दी दुह दे !'

मेहार खिसियाकर खड़ा रहा।

'वाह रे, वाह !' सुहिणी ने कहा—तू कैसा मेहार है ? दुहना तक नहीं जानता ! धूल पड़े तेरी इस ज़िन्दगी पर !

सुहिणी ने अपने हाथों एक भैंस दुह ली। एक आँचल भी पूरा दुह न पाई थी कि दोहनी उसकी छलाछल भर गई, फेन के फौवारे से उड़ने लगे। माथे पर दोहनी रखकर मदमाती सुहिणी गाँव की ओर लौट पड़ी और जाते-जाते कह गई—'बुद्धू मेहार! बेवकूफ मेहार ! न बाँग देना जाने, न दुहना जाने !' सिंधी कुम्हार की इस कदावर कन्या की इन बातों ने—उसकी खिलखिलाहट और उसके पैरों की धमधमाहट ने—मेहार-नामधारी उस परदेशी नौ-जवान को ऐसे अचम्भे में डाल दिया की वह जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। सुहिणी की ये गालियाँ तो उसे सदा ही घी के घेवर की तरह मीठी लगती थीं। जिस दिन वह भला-बुरा कह जाती, उस दिन मेहार की खुशी का पार न रहता, उसका एक सेर खून बढ़ जाता !

सुहिणी को मेहार पर बड़ी दया आती थी। चरवाहे के नाते, अपने काम में वह रोज़ इतनी गलतियाँ करता कि तोला कुम्हार को हर दिन उस पर नाराज़ होना पड़ता था। मालिक की झिड़कियाँ सुनकर जब

मेहार उदास और निष्प्रभ हो जाता, तो सुहिणी को उस पर बड़ी दया आती और वह छिपे-छिपे उसकी उदासी को मिटाने के अनेक यत्न करती। बेटी के ये यत्न बाप से छिपे न थे ; किन्तु उसे अपनी लड़की की दयालुता में विश्वास था। चार सौ गदहों और पन्द्रह भैंसों के मालिक तोलाजी ने यह तो कभी सपने में भी न सोचा था कि उनकी दुलारी और इकलौती बेटी एक गँवार चरवाहे को प्यार करती है !

एक दिन की बात ! मेहार सिन्धु के किनारे बैठा था। पाँच गदहों के खो जाने से तोलाजी ने आज उसे आड़े हाथों लिया था। उसके गोरे मुखड़े पर उदासी और शोक की छाया फैली हुई थी। इतने में सुहिणी के पैरों की आहट ने उसे सजग कर दिया। आते ही सुहिणी ने ताने-भरी आवाज़ में कहा—क्यों, कैसी बेभाव की सुननी पड़ी ! अब भी अक़्ल ठिकाने आई या नहीं ! निरा गदहा कहीं का !

सुनते ही मेहार की आँखें छलछला आईं। सुहिणी समझ गई। चरवाहा कभी इस तरह नहीं रोता। उसने मेहार का हाथ पकड़कर कोमल सुर से कहा—अरे, मेहार होकर रो दिया ! मेहार की, और इतनी कच्ची छाती ?

'सुहिणी ! मैंने तुझे धोखा दिया है। मैं मेहार नहीं।'

'एँ, तू मेहार नहीं ? कोई शाहज़ादा है क्या ?'

'शाहज़ादा तो नहीं ; मगर शाहज़ादे की तरह ही लाड़-चाव में पला हुआ एक अमीर बाप का बेटा हूँ।'

'किसका बेटा ?'

'यह सब आज पूछकर क्या करोगी ?'

'नहीं मेहार ! तुझे मेरी क़सम है, अभी कहना होगा ! कह डाल, इतने बड़े भेद की बात छिपाकर क्या करेगा ?'

'अच्छा, सुनो सुहिणी ! मैं सिन्धी नहीं हूँ। बलख़-बुख़ारे का रहनेवाला मुग़ल हूँ, परदेशी हूँ। मेरे वालिद का नाम मिर्ज़ा अलीबेग

है। उनके घर दौलत के ढेर लगे हैं। इस वक्त इनकी उम्र ७५ के करीब है। बुढ़ापे में एक औलिया के सखुन से उनके घर मैं पैदा हुआ। सुहिणी ! मैं गँवार चरवाहा भी नहीं हूँ। बुखारा के बड़े-बड़े आलिमों से मैंने बहुत-कुछ इल्म हासिल किया है। इधर मैं हिन्दुस्तान में मुग़लों की बादशाहत देखने चला आया था। तक़दीर से एक दिन मैं इस गाँव में आ पहुँचा। रात यहाँ की सराय में ठहरा। और, जब तुम्हारे वालिद से मिट्टी के बरतन ख़रीदने तुम्हारे घर आया, तो तुम्हें देखा, और देखकर दीवाना बन गया ! मेरे प्यारे दोस्त हसन बेग ने मुझे बहुतेरा समझाया ; पर मैं न समझा। मेरे जवाहरात चोरी चले गये, मेरी गाँठ ख़ाली हो गई, मेरा साथी बीमार पड़ा और चल बसा ! हवा से बातें करनेवाली मेरी साँढ़नी को भी कोई चुरा ले गया। और मैं, तेरे प्यार का दीवाना, फ़ना होकर, आज सिन्ध का मेहार बना हूँ। तेरे वालिद के गदहे चराता हूँ।'

अपने अचम्भे को दिखाते हुए सुहिणी ने उलाहने-भरी आवाज़ में कहा—मैं समझी मेहार ! तुम्हें अब इन सब बातों का अफ़सोस जो हो रहा है ? जाओ, बुख़ारे की दौलत और भाई की मुहब्बत क्यों खोते हो ? खुशी से जाओ ; पिंजड़े का दरवाज़ा मैं खोले देता हूँ।

'नहीं', अब मैं कहाँ जाऊँ ! पिंजड़े के पंछी को जंगल के पंछी अब निबाह न सकेंगे। अब तो इस सिंधु के किनारे ही मेरी क़ब्र बनेगी।'

'तो फिर आँखों में आँसू किसलिए ?

'सुहिणी के लिए, जो मुझे निरा चरवाहा समझती है !'

सुहिणी मन से मेहार के साथ निक़ाह पढ़ चुकी थी।

(२)

एक दिन तोला कुम्हार ने भी सुना कि सिंधु के किनारे, घटादार बरगद की छाया में, रोज़ दोपहर के वक्त, सुहिणी और मेहार मिलते हैं। धीरे-धीरे बात फिर फैली और तोलाजी ने सुना कि दोपहर के

बदले अब वे आधीरात को अँधेरे में मिलते हैं और इतने धीमे-धीमे घुल घुलकर प्यार की बातें करते हैं कि बरगद की डालियों में लेटे हुए पंछी भी कुछ सुन नहीं पाते।

दूसरे दिन सवेरा होते ही तोलाजी ने मेहार के हाथ से भैंस हाँकने की लकड़ी छीन ली और कहा—अब जो तूने शदापुर की सरहद में पैर भी रखा, तो याद रख कि तुझे जान से मारकर तेरे खून से सुहिणी को नहलाऊँगा। नमकहराम कहीं के—जा, निकल जा यहाँ से !

सिन्धु के उस पार पहुँचकर मेहार ने अपने लिए एक झोपड़ी तैयार की और प्रेम की धुन में वह ऐसा बेसुध हुआ कि खाने-पीने की भी सुध भूल गया। सुबह से शाम तक ईरानी अरबी और सिन्धी कवियों के क़ाफिये गाने और बंसी बजाने से उसे फुरसत ही न मिलती। रात होते ही वह एक मछली पकाने, बैठता और आधी रात को पकी हुई मछली सिर पर रखकर, लँगोटा बाँधे सिन्धु के अथाह जल में कूद पड़ता। हाथियों को भी बहा ले जानेवाली सिन्धु की उस वेगवती धारा में अपनी सशक्त-भुजाओं से पानी को चीरता हुआ, एक भीमकाय मगर की तरह, निशंक भाव से वह आगे बढ़ा चला जाता था। काली अँधेरी रात में सिन्धु के एक मील चौड़े पाट को बात-की बात में पार करके ज्यों ही वह किनारे पहुँचता, त्यों ही सुहिणी के सुकुमार हाथ उसके स्वागत को आगे बढ़ जाते और उसे खींचकर पानी से बाहर निकाल लेते। फिर तो दोनो उसी बरगद की घटा में बैठकर मछली की दावत उड़ाते और प्रेम की मीठी बातों में रात का एक पहर बिताकर फिर दिन-भर के लिए बिछुड़ जाते। मेहार भी पुनः सिंधु की अथाह जलराशि को चीरता हुआ उस पार अपनी कुटिया में जा पहुँचता।

ऐसी तो अनेकों रातें बीत गईं। मेहार ने एक भी रात ख़ाली न जाने दी। सिंधु के भयंकर-से-भयंकर तूफान भी उसे इस पार आने से रोक न सके ; किन्तु शुक्ल-पक्ष की उस उजेली रात में, जो मछली मेहार

पकाकर लाया था, उसकी मिठास, आह, ग़ज़ब की मिठास थी ! सुहिणी इधर खाती थी और उधर हर कौर के साथ उसकी तारीफ़ करते नहीं अघाती थी—वाह मेहार ! क्या कहने हैं तुम्हारी मछली के ! कितनी मीठी है ! रोज़ ऐसी चीज़ क्यों नहीं लाते ?

मेहार ने हँसकर कहा—रोज़ ला सकता हूँ, सुहिणी ! लेकिन थोड़े दिनों बाद इस मछली का खिलानेवाला न रह जायगा !

यों बातें चल ही रही थीं कि इतने में मेहार के चेहरे पर पीड़ा की छाया दिखाई पड़ी। किसी मर्म-भेदी पीड़ा को बड़ी मेहनत के साथ दबाये रखने की उस चेष्टा को सुहिणी तुरन्त ताड़ गई, और बोली—प्यारे, कहो, आज यह बेचैनी क्यों ?

'बेचैनी ? नहीं, कुछ भी तो नहीं। हाँ, कहो, आगे कहो।'

इतने में सुहिणी को कुछ गीला-गीला-सा लगा। एकाएक अचम्भे में आकर वह बोल उठी—ओ हो ! यहाँ यह पानी कैसा ?

फ़ौरन् ही उसकी निगाह मेहार की जाँघ पर पड़ी—इसी जाँघ में से लहू की एक धरा बह रही थी।

'अर्र्र ! मेहार, यह क्या है !'

'यह ? यह तो आज की इस मीठी मछली का खून है, सुहिणी !'

सुहिणी तुरन्त सारा भेद समझ गई।

जब मेहार को आज मछली न मिली, तो उसने अपनी जाँघ का माँस काटा, उसे मसालेदार बनाया, तेल में तला और लेकर सुहिणी के पास आया।

'मेहार ! तुम्हें कसम है, ख़ुदा की। कल से अब मेरी बारी शुरू होगी। तुम इधर न आना।'

'तो क्या तुम आओगी ?'

'हाँ, मैं आऊँगी।'

'तुम ! तुम औरत हो। इतने बड़े दरिया को कैसे पार करोगी ?

सुहिणी ! तुम दीवानी तो नहीं हो गई हो ?'

'इसका फ़ैसला आनेवाली रात करेगी। आज तो ख़ुदा हाफ़िज़ है। और क़सम है, तुम्हें ख़ुदा की, तुम न आना !'

(३)

बारे कुम्भ बत्रिय तड़, तड़-तड़ हेठ भट्ट
आधिय रात जो उठी, (से) सुहिणी करसट्ट
छड़े खीट खट्ट, लुड़े लोरीं बिच में।

[सिन्धु के जल में दोनो किनारों के बीच बारह तो बड़े-बड़े भँवरे हैं, बत्तीस चट्टानें हैं, और चट्टानों के अन्दर बीच-बीच में बिच्छू रहते हैं। ऐसी भयावनी नदी को पार करने के लिए सुहिणी आधी रात को अँधेरे में घर छोड़कर निकल पड़ती है। मैके का मीठा दूध और मुलायम सेज छोड़कर सिन्धु की लहरों पर हिंडोले खाने के लिए चल पड़ती है।]

× × ×

'कौन है ? औरत !'

'हाँ, एक मुसाफिर !'

'कौन ? तू ! सुहिणी ?'

'हाँ, अलैया भाई !'

'आधी रात को यह सफर कैसी ?'

'सिन्धु के उस पार जाने की !'

'अरी सुहिणी ! सिन्धु को तैरकर तुम उस पार जा सकोगी ? अभी तुम लड़की हो। तुममें इतनी ताक़त कैसी ?'

'ताक़त का देनेवाला तो वह अल्लाह है, अलैया ! और तैरने के लिए तो यह देखो, मिट्टी का एक पक्का घड़ा मैं अपने साथ लाई हूँ, भैया !'

'लेकिन यह सब किसलिए !'

'जिसे दिल दे चुकी हूँ, उस मेहार के लिए।'

'या अल्लाह ! सुहिणी, तू जानती है, दुनिया तुझ पर थूक रही है ?'

'अरे भैया ! सुनो—

अधा सुण तुं अलैया, अला सुणे अचार,
हिरड़ी घर-घर गिला थिये, पाड़े पंध पचार,
आऊँ लिख्यो ती लोड़ियाँ, खल्क मिड़ेती ख्वार।'

[प्यारे भैया ! मेरी नेक-चलनी को तो ऊपर से वह मालिक देख और सुन रहा है। फिर मैं क्यों परवा करूँ कि पड़ोस में, रास्ते में और घर-घर में कोई मेरी क्या गिला कर रहे हैं ? जो तक़दीर में लिखा लाई हूँ, वही भोग रही हूँ। दुनिया तो नाहक़ मेरी बदनामी करके खुद बद-नाम हो रही है।]

'अरी, ओ सुहिणी !

सारा न थिइयें सुणी, तुं नीज निमाणी,
वेंधे वह बट विसरे, हो जोर जुवाणी ;
से पछाड़ी पे पाणी, तारा कविये तार में।'

[तू अपने कुल में कलंकिनी पैदा हुई। नादान और बेवफ़ा निकली। सिंधु की इस धारा में किसी दिन तू अपना ज़ोर और जवानी दोनो गँवा बैठेगी। इस महानद को चीरते-चीरते किसी दिन तू इसी में आसमान के तारे गिनने लगेगी—तू डूब मरेगी। मैं कहता हूँ, तू रहने दे। नाहक़ मुसीबत में क्यों फँसती है ! क्यों इस तरह मौत से खिलवाड़ करती है ?]

ऐसी-ऐसी अनेक सलाहें सुनकर भी अट्टहास से दिशाएँ गुँजाती हुई सुहिणी पानी में कूदने को तैयार हो जाती है—

घिरी घरो हथ करे, चेल बधी चोतो,
मन मिल्युस म्यारसें, पर ले पार पोतो,
पो गोते भंझ गोतो, अरें मविझे अजाण में।

[सुहिणी ने अपनी कमर पर कसकर कछोटा बाँधा, हाथ में मिट्टी का घड़ा लिया, और नदी में कूदने की तैयारी से किनारे आकर खड़ी हुई कि मन उसका उस पार पहुँचकर प्रियतम से जा मिला। लहरों पर नाचती और डुबकियाँ खाती हुई सुहिणी दोनों हाथों से पानी को इस तरह चीरती चली कि जिससे उस पार बैठे हुए प्रियतम को उसके आने का पता चल जाय।]

प्रेम का कवच पहनकर वह संसार के सभी भयों से निर्भय हो चुकी थी। उसके प्रेम के सामने सिन्धु के भयंकर मगर-मच्छ और उसकी उत्ताल तरंगें भी ग़रीबिनी बन जाती थीं। और इसी तरह रात-पर-रात बीत रही थीं।

कड़ाके की सर्दी ! किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि घर से बाहर निकले। सभी रजाई ओढ़े बिछौनों में जा छिपे थे। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। ऐसे समय भी सुहिणी अपना घड़ा लिये घर से निकल ही पड़ी। उसे जाते देख किसी मा के जाये ने टोककर कहा—अरी सुहिणी। इस जाड़े में कहाँ बेमौत मरने जा रही है ?

सुहिणी बोली—

हिकड़्युँ न धिरे उनहारे, आऊँ सरै सियारे;
तन विभांती तार में, ओरहजे आरे,
(पर) मोहबत्ती मारे, (नत) केर धिरे हिन कुन में !

[ऐ भैया ! दूसरी औरतें जेठ की धधकाती दुपहरी में भी इस पानी में नहीं उतरतीं; लेकिन मैं कड़ाके की इस सर्दी में भी खुशी-खुशी इस दरिया में कूद पड़ती हूँ। मौत की मुझे ज़रा भी परवा नहीं—कारण, मेरे प्यारे की मुहब्बत मुझे मारे डाल रही है; वरना कौन है ऐसा, जो मौत से इस तरह खेलेगा !]

'सुहिणी ! तू न जा—मत जा ! नदी की चट्टानों के अन्दर ज़हरीले साँप और बिच्छू छिपे हुए हैं, वे तुझे डस लेंगे।'

सुहिणी ने जवाब में कहा—

बारां कुम्न बत्रिय तड़, तड़-तड़ हेठ नांग,
म्हाणु मुत्ताजो करी, तित म्होबतजो मांग,
केड़ो मुहजो सांग, (जुड़ो) पाणीतां पाछी वरां !

[भैया ! मेरे रास्ते में बाहर तो पानी के भँवरें हैं, बत्तीस चट्टानें हैं, और हर चट्टान की खोह में ज़हरीले साँप भी रहते हैं। मैं यह सब जानती हूँ ; लेकिन दूसरे लोग जिस रास्ते जाने से हिचकते हैं, वही तो मुहब्बत का रास्ता है। वह मुहब्बत ही क्या, जो पानी से डरकर घर बैठी रहे ? धिक्कार है मेरे प्रेम की इस पोशाक को, और इश्क़ की इस कफ़नी को ; अगर दरिया से डरकर मैं घर लौट जाऊँ !]

यह कहकर सुहिणी ने कच्छा बाँधा और सिन्धु के बर्फ़ीले पानी में कूद पड़ी। तैरते-तैरते वह इतनी दूर निकल आई कि उसके तैरने की आवाज़ इस पार खड़ा हुआ उसका सलाहकार अधिक देर तक न सुन सका। वह वापस अपने घर की ओर चल पड़ा !

जाड़ा बीता, गर्मी बीती ; किन्तु सिन्धु के उस पार पहुँचने और आधी रात को प्रियतम से मिलने में कभी नागा न हुआ। अब तो बारिश आ पहुँची थी। सिन्धु दोनों किनारों को समेटकर बह रही थी। लहरें उठ उठकर आसमान को छूने लगी थीं। जिसे देखने-मात्र से रोमांच हो आता था, ऐसे महाभयावने तूफ़ान भी सुहिणी के लिए रोज़मर्रा के खेल बन चुके थे। जैसे ही अपने घड़े के साथ वह किनारे आकर खड़ी हुई, वैसे ही किसी मानवी ने उसके निकट आकर कहा—

सुणी सर्टे तार में (तो) सियारों ने सी ;
लगी लेर ले हरतें, से जुधा करे जी ;
थोड़ा विरमी थी, मथेर पर तो कुन्न करे।

[ओ सुहिणी ! इस दाँत कटकटानेवाले ठण्ढे पानी में तू क्यों

कूद रही है ? ज़रा देख तो, ये लहरें कैसी भयंकरता के साथ आपस में टकरा रही हैं। कहीं ये कातिल लहरें तेरे प्राण को शरीर के पृथक् न कर डालें ! और किनारे की इस कगार को देख, जो अब गिरे, तब गिरे, हो रही है, और किसी भी समय तुझ पर वज्र की तरह टूट सकती है ; इसीलिए मैं कहता हूँ, कि थोड़ी देर ठहर जा !]

'नहीं भैया ! थोड़ी देर भी भला मैं कैसे ठहर सकती हूँ ? अगर हमारे मिलाप का समय ज़रा भी टल जाय, तो मेरा मेहार तड़पकर फौरन् जान दे डाले !'

इतना कहकर सुहिणी पानी में पैठ गई और मछली की-सी सरलता से तैर चली। इसी तरह रोज़ वह जाती, और सुख के दो पहर अपने प्रियतम के साथ बिताकर पिछली रात फिर इस पार आ जाती थी।

इस बीच अपनी इज्ज़त बनाये रखने के लिए एक दिन लोभी पिता ने सुहिणी का ब्याह कुम्हार कुल के एक बदसूरत छोकरे के साथ कर दिया। ब्याह के समय सुहिणी ने खुले तौर पर इस सम्बन्ध से अपनी नाराज़ी जाहिर की ; लेकिन ब्याह तो ज़बर्दस्ती हो ही गया। जब उसने ससुराल जाने से इनकार किया, तो बाप ने उसके पति को घर-जमाई बनाकर रख लिया। तिस पर भी सुहिणी ने पहली ही रात पति को यह चेतावनी दे दी कि देखो, तुम मेरे भाई और बाप के बराबर हो। फिर कभी इस कमरे में न आना।

सुहिणी ने सगे-सम्बन्धियों से मिलना-जुलना छोड़ दिया। दुनियादारों से उसका मन हट गया। लोगों से बोलना-चालना भी उसने कम कर दिया। पाँचों बार नमाज़ पढ़ने, कुरान की आयतें याद करने और रोज़ा रखने में उसके दिन बीतने लगे और रातें तो सिन्धु के उस पार बैठे हुए अपने स्वामी को वह सौंप चुकी थी।

सुहिणी का कुम्हार-पति यह सब सह न सका। उसने तीर से तीखे उलाहने देने शुरू किये। सुहिणी अकेले में बैठकर सोचने लगी—

नाय न निमाजुं पडे, गंध न गंध्युं धोय,
सभ्फे मींभ सूमथी, (से) पासा फेरे पोय,
उथि आधिय रात जो, (ई) कुनिया काणे रोय,
कडवा वेण कमाला, (तड़े) वर छड़ेतो वाण तरां ।

[मेरा यह पति न नमाज़ पढ़ता है, न कभी अपने गन्दे कपड़ों की गन्दगी धोता है । साँझ होते ही लम्बी तानकर सो जाता है और सवेरा होने पर करवट बदलता है । आधी रात को उठकर हाँड़ी के लिए (खाने को) रोता है ; और तिसपर भी यह मर्द है, जो मुझे तीखे बैन सुनाता है ! ऐसे के साथ मेरा पल्ला बँधा ही क्यों ! मुझे ऐसे पति की कोई परवा नहीं । मैं तो इसे छोड़ सिन्धु के उस पार चली ही जाती हूँ ।]

पति का त्रास और लोगों की काना-फूसी दिनों-दिन बढ़ती ही गई । मा-बाप ने भी सुहिणी की मौत में अपना हित देखा, और सचमुच ही सुहिणी की मौत आ पहुँची ।

रात अँधेरी है ; किन्तु महीना वैशाख का है, जिसकी मीठी रातें प्रेमियों के लिए अनुपम होती हैं । नाव के बादबान की तरह सुहिणी की आसमानी ओढ़नी के आँचल समीर की लहरों से फूल उठे हैं, मानो सृजनहार ने सिंधु के उस पार उड़ जाने के लिए सुहिणी को दो पंख दे दिये हैं । सिन्धु की छाती सुहिणी को खेलाने के लिए उमड़ रही है और गैबी सितारे उसे तैरती देखने के लिए टक लगाये हैं ।

किनारे खड़ी रहकर सुहिणी ने दसों दिशाओं को एक नज़र देख लिया । आज तूफान न था । आज की-सी रात भी पहले कभी न आई थी । समस्त प्रकृति मानो आज सुहिणी का साथ दे रही थी । जिसे दुनिया ने ठुकराया था, उसे देवता आज अपनाने जा रहे थे ।

कच्छा कसकर सुहिणी नदी में कूद पड़ी । खमा ! खमा ! करती हुई सिन्धु की लहरों ने मानो उसके शरीर को फूल के गेंद की तरह

ऊपर-ही-ऊपर उठा लिया। अपने सुन्दर और रंग बिरंगे चित्रोंवाले घड़े पर मुँह टिकाकर सुहिणी हिलोरें लेने लगी। आज की हवा और पानी भी उसे इतना सुहावना मालूम हुआ कि तैरते ही रहने का दिल हो गया! मन में रह-रहकर यह विचार उठने लगा कि काश, मेहार भी साथ होता ताकि दोनो अकड़ी बाँधकर तैरते हुए समुन्दर तक जा सकते! मन होता था कि कहीं ऐसे रसातल में जाया जाय, जहाँ दुनिया की कोई गिला न पहुँचती हो।

बस, आज तो बाहर ही न निकलूँगी। पानी में पड़े-पड़े ही मेहार को बुला लूँगी। कहीं ऐसा न हो, बाहर निकलने पर संसार में जीने की मोह फिर सिर हो जाय!

कल्पना के घोड़ों पर सवार हो सुहिणी यों उड़ी जाती थी कि इतने में एकाएक हाथ से घड़ा उसका छुटने लगा। अरे! घड़े की यह मिट्टी यों टूट-टूटकर गिर क्यों रही है? मेरे इस पके और मज़बूत घड़े पर आज किसने जादू किया है?

हजारन में हिक्ड़ो मुँ टोके खयम तेतयाँ,
कचे जो कुंभार मुँ न कयो ते कलाम,
धणी लग धाम, तुँ मौला मन मेड़ियें।

[हजारों में से बजा-बजाकर मैंने यह एक घड़ा चुना था। अरे रे! कुम्हार ने इसके कच्चे होने का तो इशारा तक मुझे नहीं किया, फिर भी यह कच्चा घड़ा आज कैसे आ गया! ऐ अल्लाह! अब तो तू ही मुझे मेरे स्वामी तक पहुँचा कर मुझे उनसे मिला दे।]

उसकी विचार-धारा टूटी भी न थी कि घड़ा गलकर पानी में मिल गया। सुहिणी के छटपटाते हुए हाथों में मिट्टी भी न रह गई। वह तैरना तो जानती थी; लेकिन मेहार को रिझाने के मनोरथों में उलझ-कर वह इतनी धीमी चाल से बढ़ रही थी कि किनारा काफी दूर रह गया था और वह अबला थक गई। रह-रहकर उसे इसका अचम्भा

होने लगा कि अ र् र् र् ! मेरे इस घड़े पर यह क्या जादू हो गया।

हजारन में हिकड़ो मुँ चितायम चई,
वहमें वली दावद चेय, पिथुंथ्यो से पई ;
सुपक्क कयो मुंसई, कजा ! ते कचो कियो !

[हजारों पके घड़ों में से एक मजबूत घड़ा चुनकर इस पर मैंने सुंदर तस्वीरें बनवाई थीं। (कवि वलीदाउद कहता है) आज वही घड़ा कैसे पानी के इस प्रवाह में पड़कर गल गया ! मैंने जिसे पकवाया था, मेरे दुर्भाग्य ने उसी को कच्चा बना दिया !]

आखिर यह हुआ क्या ? महीनों तक जो मज़बूत रहा, वह आज मिनटों में पिघल कैसे गया ?

घड़ा बदल दिया गया था। अपनी कुल-कलंकिनी कन्या को डुबो देने के लिए स्वयं सुहिणी के माता-पिता ने असली घड़े की जगह वैसी ही तसवीरोंवाला बिलकुल कच्चा घड़ा रखवा दिया था। और प्रेम की दीवानी, दुनिया के छल-कपट से अनजान और भोली-भाली सुहिणी को इसका कुछ पता न था। वह तो सदा की तरह आज भी जल्दी में रोज की जगह से घड़ा उठाकर किनारे आई और नदी में कूद पड़ी थी।

(४)

सुहिणी आज निराधार है। पानी को चीरकर आगे बढ़ा चाहती है ; पर बाँहों में बल नहीं रह गया है। काली अँधेरी रात है ; न उस पार कोई दिखाई पड़ता है, न इस पार से कोई सुहिणी को देख सकता है। केवल परलेपार किनारे पर ढोर चर रहे हैं, जिनके गले की घण्टियों की आवाज़ रह-रहकर सुनाई पड़ती है और सुनाई पड़ती है—मेहार की मीठी बंसी !

किथे घट वजन ? किथे पिरीयुं पार ?
वीर वजायतो बाँसली, साहड सज़ी रात !

कलमें जी तवार, लोरी समें लंघयु !

[अरे ! ये घंटियाँ कहाँ बज रही हैं ! मेरे प्यारे का किनारा अब और कितनी दूर है ! मालूम होता है, आज सारी रात मेरी इन्तज़ारी में मेरा बहादुर मेहार यों ही बैठा बंसी बजाता रहेगा । ओह ! उसकी बाँसुरी से निकलनेवाली कलमे की पाक आवाज़ पर अपने कान लगाकर ये इतनी लहरें तो मैं पार कर चुकी हूँ ; लेकिन हाय ! अब मेरे इन हाथों में न कूवत है, और न पैरों में ताकत रह गई है ।]

घरो भगो त गोरेओ शाल म भजे घरी,
मुलांटो मेआर जो, भिजी थ्यो अय भरी ;
तागोतार तरी, मान डिसां मुँह म्यार जो !

[परवा नहीं, घड़े ने जो दग़ा दिया ; लेकिन ऐ अल्लाह ! अब हमारी मुलाक़ात में कोई दग़ा न हो ! सामने से जो मेहार कूदा है, उसकी पगड़ी भी अब तो भींगकर बहुत भारी हो चुकी होगी । ऐ खुदा पानी छिछला हो या गहरा, इतनी मदद तुम ज़रूर करो कि मैं इसे तैरकर अपने मेहार का मुखड़ा देख सकूँ ।]

लेकिन वह मुखड़ा देखना अब बदा न था । अब तो बंसी की धुन सुनते-सुनते पानी की सेज पर अकेले ही सोना था । सिन्धु की मँझधार में पहुँचते-पहुँचते तो वह अबला थककर इतनी लस्त-पस्त हो गई । कि आँखों में अँधेरी आने लगी, सिर चकराने लगा—

अखी में अभरा यल रीठो (तय) मनतणे तो म्यार क्यां ।'

[जब आँखें खुलीं, तो देखती क्या है कि मौत का फ़रिश्ता इसराइल सामने खड़ा है, फिर भी दिल तो उसका दौड़कर मेहार के पास पहुँच चुका था ।]

बंसी की धुन मिठी लगती थी । उसके रंग में भंग डालना सुहिणी को पसन्द न था ; किन्तु अब उसकी देह जल-समाधि की तैयारी कर रही थी । मंझधार की लहर के एक मस्त झोंके से सुहिणी के पैर उखड़

गये थे और वह बह चली थी। बहते-बहते उसके मुँह से बरबस एक हृदय-विदारक चीख निकल ही पड़ी—मेहार ! मेहार !! ओ मेहार !!!

चीख के निकलते ही बसी की आवाज़ थम गई। और 'आता हूँ ! आया, यह आया !' की आवाज़ के साथ उस पार किनारे से कोई पानी में कूद पड़ा।

डूबती, गोते खाती और लहरों की चपेट में पड़कर बहती हुई सुहिणी ने चीखने को तो चीख़ दिया ; लेकिन तुरन्त ही फिर उसे पछतावा होने लगा। उसे याद आया कि मीठा मांस खिलाने के लिए मेहार ने उस दिन अपनी जो जाँघ चीरी थी, उसका जख़्म अभी तक भरा नहीं था। उस जख्म को लेकर मेहार तैर नहीं सकेगा, और अगर तैरा, तो मेरे ख़ातिर जान गँवाकर तैरेगा।

> धिरीं घरो हाथ करे, बोर्यां इ बांहु,
> बेचारीय वञ्यु कीयुं विय घरिया धाऊँ ;
> वरज साह्‌ ! पांऊँ, तांकूं तकी आंह्यां !

[पहले वह हाथों से घड़ा थामकर तैरी, जब घड़ा गल गया, तो दोनो बाँहें फैलाकर तैरी, और जब डूबने लगी, तो दरिया में से असहाय की तरह पुकार उठी – मेरे प्यारे साहाड़ ! ओ मेरे मेहार ! तुम लौट जाओ—वापस चले जाओ ! मुझे तो अब दरिया के इन खूँख़ार प्राणियों ने घेर लिया है।]

अन्त में फिर सुनाई पड़ा – मत आओ ! ओ मेहार ! तुम इधर मत आओ !

लेकिन अब मेहार किसके लिए लौटता ?

उसने कई गोते लगाये, खालें और खोहें देखीं ; लेकिन सुहिणी का पता न चला, न चला। उसकी जाँघ का जख़्म फट गया। उसमें से लहू बहने लगा। और कुछ ही देर में उसकी निष्प्राण-सी काया 'सुहिणी ! सुहिणी !' की रट के साथ अगाध जल राशि के अन्दर

सुहिणी की अनन्त शोध में समाविस्थ हो गई ।

सवेरा हुआ। माता सिन्धु ने दोनो प्रेमियों के शवों को एक साथ एक किनारे लगा दिया। सुहिणी के परिवारवाले सिन्धु के तट पर इकट्ठा हुए। प्रेमी-युगल एक साथ दफ़नाये गये। ऊपर से एक क़बर बनाई गई !

शदापुर गाँव की सरहद पर सुहिणी की यह क़बर आज भी मौजूद है।

पतन की एक करुण कथा

ता० ७ मई, १९२६।

अन्त में, मैं एक नाटक-कम्पनी में शरीक हुई और वनमाला से बदलकर 'वसन्तसेना' बनी। संसार बदला, नाम बदला, और काया भी बदल गई। कहाँ आदर्श माता-पिता के आश्रय में बिताया हुआ बचपन, कहाँ गिरीश के साथ विवाह-बन्धन की सुखमय कल्पना, और माता की मृत्यु के बाद उन्हीं पिता का मेरी तरफ़ से आँखें फेर लेना। यदि मौसी को वह विवाह करके न लाते तो आज क्या मेरा जीवन ऐसा होता !

किन्तु समाज द्वारा ठुकराई हुई विधवा से नटी (अभिनेत्री) होना क्या बुरा है ? यहाँ मेरे जेठ-जैसे नराधम एक निराधार विधवा की बेबसी का लाभ उठाकर अन्याय करनेवाले ढोंगी और पाखण्डी पुरुष तो नहीं हैं ! कम-से-कम पेट का गढ़ा तो भरता रहेगा ! किन्तु यह जीवन ! मेरे लिए ? कहाँ तक निभूँगी ? भगवान् ही जाने ।

❀ ❀ ❀

ता० ८ मई, १९...

सब कुछ नया। दिल में घबराहट हो रही है। कुछ समझ में नहीं आता। अभिनय के समय सुन्दर मालूम होनेवाले आदमी ऐसे ! हाँ, मैं यहाँ किस तरह रहूँगी ? कुएँ से निकलकर खाई में तो नहीं गिर पड़ी ? वापस भाग चलूँ तो ! किन्तु फिर, फिर खाऊँगी क्या और उसे--अपने कलेजे के टुकड़े को कैसे लाऊँगी ? मा अम्बिके ! तेरी शरण हूँ ।

❀ ❀ ❀

ता० १७ मई, १९...

यहाँ आये कुल दस दिन हुए ; किन्तु जैसे दस जन्म बीत गये हों। कितनी बेचैनी है। सब नट मुझे इस तरह घूरते हैं, जैसे मैं रास्ते की भिखारिन हूँ। मुझे जो कुछ सिखाया जाता है, उसे याद करते-करते मैं तो घबरा उठती हूँ। मेरा मज़ाक उड़ाने का तो शायद सबको जन्म-सिद्ध अधिकार है ! तमाम कम्पनी भर में, मैं और तरुबाला दो ही स्त्रियाँ हैं, बाक़ी सब पुरुष ! यद्यपि मैं रहती तरुबाला के साथ ही हूँ, फिर भी वह मुझे फूटी आँख से भी नहीं देख सकती, मानो मैं कोई जंगली चिड़िया हूँ और वह यहाँ की महारानी। उसकी अपेक्षा रूप और आवाज़ तो मेरी अच्छी है—ख़ैर किसी दिन उसे भी दिखा दूँगी कि मैं भी कुछ हूँ !

किन्तु मुझसे यहाँ रहा कैसे जायगा ? मैं जैसे कोई बाज़ारू औरत

हूँ, इस तरह सब छोटे-बड़े मुझे देख-देखकर क्यों सैन किया करते हैं ? और उसमें भी वे मुख्य नट ! उनसे तो ईश्वर ही बचाये, वे चाहे कुछ भी कहें या करें, क्या मजाल जो चूँ भी कर सकूँ !

मालिक से शिकायत की तो उन लोगों के विरुद्ध फरियाद वह सुनता ही नहीं—उलटे कहता है कि ऐसी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने लगूँ, तो कम्पनी में ताला लगाने का समय आ जाय। तुम्हें रहना हो रहो, अन्यथा अपना रास्ता पकड़ो। जी में तो ऐसा आया कि इसका सिर फोड़कर निकल भागूँ ; परन्तु जाऊँ कहाँ ? हे ईश्वर ! अब तो मुझे मौत दे ! यदि दयालु हो तो मेरे लिए यह सब से बड़ी दया होगी।

❀ ❀ ❀

ता० ३० मई, १९...

अभी तक मैंने किसी खेल में पार्ट नहीं किया, फिर भी दिनोदिन हिम्मत बढ़ रही है—मालिक ने अपने नटों और कर्मचारियों से कुछ कहा ज़रूर है। तभी तो आजकल कोई मुझसे ज्यादा छेड़छाड़ नहीं करता ; किन्तु मुझे जाते-आते देखकर इशारेबाजी करने और गाना गाने को तो सभी का मन हो जाता है, और अब तो मैं भी ठठेरे की बिल्ली होती जा रही हूँ। वे कुछ भी करें, मुझे क्या ?

आजकल तरुबाला कभी-कभी मेरी तरफ़ कम-से-कम देखने की कृपा करने लगी है। यह जितनी सुन्दर रात्रि को लगती है उतनी दिन में नहीं लगती। कमरे में आने के बाद दिन भर आईने में देखकर बनाव-सिंगार करने के सिवा उसे दूसरा काम ही नहीं सूझता। यदि मैं उसके जैसे बढ़िया कपड़े पहनकर उसके जैसा रुपए में दो आने भी बनाव-सिंगार करूँ, तो उससे हज़ार दरजे अधिक सुन्दर नज़र आऊँ ; किन्तु कैसी भी हो, वह कौन और मैं कौन ! इतना दुःख मुझ पर न पड़ता तो यहाँ आने का भी क्या काम था ?

❀ ❀ ❀

ता० २० जुलाई, १६...

दो महीने हुए, मुझे नये खेल में चमकाने की तैयारियाँ हो रही हैं। मुझे संगीत सिखाने के लिए एक उस्तादजी आया करते हैं। तमाम दिन नये खेल का पार्ट ज़बानी याद किया करती हूँ। मुख्य अभिनेता के पास भी अभिनय सीखने के लिए जाना पड़ता है। उसके सामने जाते मुझे सचमुच बड़ा डर मालूम होता है। अच्छा है कि उस्तादजी भाग्य से बूढ़े मिले हैं। जब से मैं उनके पास जाने लगी हूँ, तब से कभी-कभी तरुबाला अपनी सुरमेदार आँख और रंगे हुए होठों पर हँसी लाकर कहा करती है कि अब तू कुछ रास्ते पर आ जायगी। वह मुझसे घृणा करती है। ऐसा भाव उसने मुझ पर कभी ज़ाहिर नहीं होने दिया। परन्तु जैसा मुझे वह सिखाता है उस तरह का नाट्य करते ज़रा शर्म लगती है। अपने कमरे में अकेली तो जैसा चाहूँ वैसा कर सकती हूँ; किन्तु शंकर के सामने मैं कुछ नहीं कर सकती; और शरीर की मोड़-तोड़ एवं अभिनय करने के लिए तो हृदय में उत्साह की ज़रूरत है। मैं दुखिया ठहरी। ग्रीष्म-ऋतु के प्रचण्ड ताप में शीतल झरने सूखे ही पड़े रहते हैं।

❀ ❀ ❀

ता० ३१ जुलाई, १६...

आज तरुबाला सिसकियाँ भरती हुई कमरे में आई और वस्त्रों को इधर-उधर फेंककर बिस्तर पर जा पड़ी। मुझे ध्यान आया कि मैं उसे सान्त्वना देने जाऊँ और शायद वह नाराज़ हो जाय; लेकिन पीछे पानी का ग्लास लेकर गई और उसके सिर पर हाथ रखकर चुपचाप वह ग्लास उसके मुँह के आगे रख दिया। दूसरे किसी मौक़े पर वह अवश्य मेरे हाथ को झटक देती; किन्तु आज विस्फारित नेत्रों से चुपचाप मुझे देखती रही और कुछ देर बाद जल पिया। मैं उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगी। थोड़ी देर बाद उसे सहसा जैसे कुछ याद आया

हो, इस तरह आँखें निकालकर मुझे देखा और एकदम पूछने लगी कि तू यहाँ किस लिए आई ?

पहले तो मैं कुछ भी नहीं समझ सकी ; किन्तु कुछ देर बाद मैंने कहा – पेट के लिए। शायद उसे मेरा जवाब ठीक न लगा, इसलिए वह कपड़ा ओढ़कर फिर सो गई। मैं भी और कोई काम न होने से अपनी चारपाई पर जा पड़ी।

यह तहखाना भी बड़ी विचित्र है। मेरा तो यह खयाल था कि आज यह जरूर मुझसे अच्छी तरह बातचीत करेगी। मुझे तो यहाँ इतना सुनसान लगता है कि अगर यह मुझ पर कृपा दिखलाने के लिए भी बातचीत करे तो अच्छा हो। हे नाथ ! मैं कौन और आई कहाँ ? मेरी यही दुर्गति करनी थी, तो किसी हलके खान्दान में ही जन्म देना था।

❀ ❀ ❀

ता० ५ अगस्त, १६...

हाय मा ! यहाँ कैसे रहा जायेगा ? मुझे शंकर की स्त्री बनकर अभिनय करना पड़ेगा और आज इसने मुझे सिखाना शुरू किया, तो राम-राम...

लज्जा के मारे मैं ऊपर भी नहीं देख सकती। इस एक जन्म में मुझे कितने जन्म भोगने पड़ेंगे ?

हे प्रभो ! क्या अधोगति करने के ही लिए तूने मुझे जन्म दिया है ? पतन की कितनी सीढ़ियाँ तू मुझे उतार चुका, अब कहाँ ले जाकर फेंकेगा ?

❀ ❀ ❀

ता० ६ अगस्त, १६...

मैंने मालिक से कहा कि मुझसे ऐसा पार्ट नहीं होगा, कोई दूसरा हो तो दीजिये ; किन्तु इसका जवाब सुनकर मैं सर्द हो गई—स्त्री पात्रों

को हम कुछ सखी-सहेली का पार्ट करने के लिए नहीं रखते। उन्हें तो पति पत्नी के सीन के लिए ही रखा जाता है। प्रत्येक नाटक में तुम्हें यही पार्ट दिया जायगा। अगर तुम राजी नहीं हो तो एग्रीमेण्ट (एकरारनामा) ख़त्म होने के बाद यहाँ से चली जाना और यदि अभी जाना चाहती हो तो तुम्हारे ऊपर जो रकम ख़र्च की गई है, उसे देकर चली जाओ।

तरुबाला ने कहा कि यह जवाब तो अच्छे-से-अच्छा जवाब है; अन्यथा...वाक्य पूरा किये बिना ही वह निर्लज्ज हास्य करती हुई अकड़कर चली गई।

थोड़ी देर बाद वह फिर आई। मैं चारपाई पर पड़ी-पड़ी रो रही थी। वह मेरे पैरों के पास बैठ गई।

कुछ देर तक वह चुप रही; किन्तु फिर उसने पूछा—तू सीता-सावित्री का अवतार थी, तो यहाँ नौकरी करने के लिए क्यों आई? मेरा दिल भरा था। बहुत दिनों से किसी ने मुझे आदमी समझकर बातचीत न की थी। दुःखातिरेक में हृदय का उफान शान्त करने की ग़रज़ से मैंने उसे संक्षेप में अपनी करुण कथा कह सुनाई।

बहुत दिनों के बाद मैंने अपने जीवन की घटनाओं के विषय में तरुबाला से बातचीत की। इसलिए या न जाने क्यों, अब भी मेरे हृदय में उन्हीं बातों की उधेड़-बुन मची रहती। हाय! हाय! किन माता-पिता की सन्तान और आज पेट के लिए मुझे क्या-क्या करना पड़ रहा है।

माता का स्वर्गवास न हुआ होता और गिरीश के साथ मेरा विवाह हो गया होता, तो आज क्या यह दशा होती? हा! मेरे फूटे भाग्य में वह पति भी नहीं बदा था—वह भी अधिक निराधार बनाकर चल बसा।

किन्तु अपनी ऐसी दुर्दशा होने में क्या कोई मेरा दोष है? मेरे

नरपिशाच जेठ ने मेरा सत्यनाश किया और बिना अपराध ही पीहर-ससुराल मुझे कहीं ठिकाना न मिले, ऐसी दशा बनाकर मुझे कहीं का न रहने दिया।

यदि अहमदाबाद के अनाथाश्रम में आश्रय न मिलता, तो कौन जाने आज मैं जीवित भी रहती या नहीं।

❀ ❀ ❀

मैंने अपनी पूरी कथा सुना दी। फिर तरुबाला अधिक देर न बैठकर अचानक उठकर चली गई। मैं अपने दुःख में इतनी ग्रस्त थी कि मुझे यह भी पता न लगा कि वह कब चली गई। अवश्य ही वह मेरे ही बारे में बातें करती हुई शंकर के साथ हँसती होगी। हे ईश्वर! अशरण-शरण! मेरी रक्षा करना। आज तक मैंने जान-बूझकर अपने जीवन में कोई पाप नहीं किया और न आगे करने की मेरी मनोवृत्ति ही है। भगवान्, तुम करुणा-सिन्धु हो। इस दुनिया में मुझे और कुछ नहीं चाहिये, केवल सुबह-शाम मुट्ठी भर अन्न और लज्जा-निवारण के लिए दो गज़ वस्त्र प्रदान करो, अनाथिनी पर दया करो।

दीनानाथ, तुम्हीं मेरे आधार हो, जीवनाधार हो! दुःख में बाँह न छोड़ देना, मुझे बचाना...

❀ ❀ ❀

ता० ७ अगस्त, १९...

कल की प्रार्थना से मुझमें एक तरह की शक्ति आ गई थी। आज शंकर के पास जाने पर उसने जैसा सिखाया, वैसा दृढ़ मन से मैंने सब कुछ किया। उसने भी सिखाने के सिवा और कोई कुचेष्टा नहीं की।

❀ ❀ ❀

ता० ८ अगस्त, १९...

मैं जो कुछ कर रही हूँ, क्या यह ठीक कर रही हूँ? नाटक की

नौकरी और इन नीच लोगों के साथ इस तरह मिलने-जुलने में क्या मेरी शोभा है ? कभी-कभी तो मुझे अपने ऊपर भी तिरस्कार होने लगता है ।

परन्तु मैं करूँ क्या ? मुझे पतिता समझकर किसी ने मुझे रसोई या बर्तन मलनेवाली की नौकरी देना भी स्वीकार नहीं किया, फिर अध्यापिका बनाकर ग्राम के बच्चे सौंपना तो बड़ी कठिन बात है । जहाँ कहीं भी मुझे कृपा दिखलाई दी, वहीं भूखे भेड़िये की तरह मुझे हड़प कर जाने की ही नीयत नज़र आती थी । देव-दानव या मनुष्य कोई भी मेरी रक्षा के लिए तैयार न हुआ ।

बम्बई आई, तब भी यही विचार था कि कोई अच्छी नौकरी मिल जाय तो ठीक, और बम्बई के सिवा मेरे लिए और ठिकाना ही कहाँ था ? किन्तु यहाँ आकर भी क्या देखा ? समुद्र-जैसी विशाल नगरी में मेरे भाग्य में तो इन कंगालों का ही साथ, और लोगों की बुरी निगाहें ही लिखी थीं । यह भी ईश्वर का उपकार हुआ कि मैं उस शारदा की तरह किसी के जाल में नहीं फँसी, अन्यथा जीते जी ऐसे नरकागार में से निकलने का भी उपाय न था । जैसे-जैसे दु:ख इस बम्बई में मैंने उठाये हैं, ईश्वर दुश्मनों को भी वैसे दु:ख न दिखाये !

यदि मौक़े पर इस नाटक कम्पनी में नौकरी न मिल जाती, तो मेरे लिए समुद्र में गिरने के सिवा और कोई चारा न था ।

तो फिर मेरे हृदय में इतनी घबराहट क्यों मची हुई है ? मुझे यहाँ कोई स्पर्श भी कर जाये, तो मेरा दम निकलने लगता है । जान-बूझ-कर कभी पर-पुरुष का स्पर्श नहीं किया । मेरे जेठ ने भी मेरी असहाया-वस्था का अनुचित लाभ उठाकर जो ज़बरदस्ती की थी, उस पाप में भी मैं दिल से कभी शामिल न थी ; और अब तो जब तक जीना , तब तक रोना है ! हे प्रभो । मेरा क्या हाल होगा ?

मैं इस तरह रो क्यों पड़ती हूँ । क्या रोने से यह दु:ख मिट

जायगा। बनमाला ! अब ज़रा हिम्मत से काम ले। यों सिसकियाँ भरने से तेरा निस्तार नहीं होगा।

* * *

ता० २७ अगस्त, १९...

घर छोड़ने के बाद बहुत दिनों के जीवन के साथ तुलना करने पर, आजकल मैं कुछ सुखी दिखाई देती हूँ। यही कारण है कि मेरी तबीयत भी फिर ठीक होने लगी है। मैं हिन्दू विधवा ! किन्तु जब ऐक्टिङ्ग सीखने के लिए मैं कल आईने के सामने सौभाग्यवती के वस्त्र पहनकर खड़ी हुई, तब स्वयं मुझे अपने आप पर आश्चर्य होने लगा। मैं अपने आपको भी न पहचान सकी, ऐसा भ्रम होने लगा।

स्टेज पर आने पर मैं अवश्य तरुबाला से अच्छी लगूँगी। जब उसने मुझे देखा, तब उसकी आँखों में कितनी ईर्ष्या भरी हुई थी ! जब मैं जा रही थी, तब दूसरे नट भी अवाक् होकर मेरी ओर देखते ही रह गये।

किन्तु मैं केवल उस शंकर से डरती हूँ। उसके पास जब मैं गई, तो उसकी एक नज़र पड़ते ही मेरा सारा उत्साह ठण्ढा पड़ गया।

उसने एक बार मेरे कान में कहा—खाली नाटक के बदले अगर हम लोग सच्चा पार्ट करें तो ! मेरी आँखों में चमकते हुए भय ने शंकर को वहाँ से चुपचाप दूर हटाने में पूरी सहायता दी।

जब तरुबाला कमरे में आई, तो शान्त-चित्त न थी। मैंने उससे पूछा भी—क्या सिर में दर्द है ? किन्तु वह तो दो-चार नखरे कर-कराके ओढ़कर सो गई। मैंने भी उससे बोलना उचित न समझा।

न जाने क्यों, किन्तु मुझे अपने को सुन्दर दिखलाना और अच्छे-अच्छे कपड़े पहनना बड़ा अच्छा लगता है। तमाम जिन्दगी में शायद ही मैंने कभी अपनी पसन्द के कपड़े पहने हों, और अब तो जीवन भी ख़ाक हो चुका है। दुनिया की तमाम स्त्रियाँ हँसती, खेलती, चहकती

फिरें, तब मैं क्यों न फिरूँ ! क्या मैंने अपने पति को मार डाला !

❀ ❀ ❀

ता० ५ सितम्बर, १९...

अहमदाबाद के अनाथाश्रम से मेरे लड़के की मृत्यु की सूचना मिली। अपने पूर्व जीवन की एकमात्र स्मृति निराधार दशा में इस तरह विलुप्त हो गई ! सदा के लिए नष्ट हो गई... चलो... अच्छा हुआ... मुझे उसका कोई दुःख या शोक नहीं है।

उसी के लिए तो मैं राह की भिखारिन और इस तरह दुखी हुई। मैंने उसे अपने इस जीवन में कभी निमन्त्रित नहीं किया था; किन्तु फिर भी जैसे इसकी जिम्मेवार मैं ही हूँ। इस तरह घरवालों ने या दुनिया ने किसी ने भी मुझे आश्रय नहीं दिया।

मैं जैसे कोई अस्पृश्य हूँ, इस तरह किसी ने मुझे घर में नौकरी करने लायक़ भी न समझा। जिसने कभी घर से बाहर पैर भी न रखा था, उसे रात-दिन साधु-सन्यासी और भिखारियों के साथ रहना पड़ा। नौकरी के लिए न जाने कितने दरवाज़ों पर नाक रगड़नी पड़ी। ठीक मौके पर यह नाटक की नौकरी न मिल जाती, तो आत्मघात के सिवा और कोई उपाय न था।

किन्तु, इस तरह मुझे रुलाई क्यों आती है ?—वह बच्चा जीवित रहता, और कभी उसे लेकर दुनिया के किसी कोने में जाकर बैठती, तो क्या शान्ति न मिलती ! वह तो केवल मुझे... मुझे ही चाहता और वृद्धावस्था में उसे देखकर आँखें शीतल करती।

मैं भी कैसी पगली हूँ ! ऐसी सन्तान भी कभी सुख देती है ? किस लिए मुझे पाप का प्रतिफल ग्रहण करना चाहिये !

मैं उसके विषय में फिर कभी नहीं सोचूँगी।

❀ ❀ ❀

ता० १० सितम्बर, १९...

समय मिलते ही, जब देखो तब शंकर तरुबाला के साथ बैठा बातचीत करता रहता है। दोनो एक दूसरे से हँसी और छेड़-छाड़ करते रहते हैं। और मेरे कहीं जाते-आते समय मेरी तरफ़ देखकर दोनो ही आँखों की इशारेबाज़ी से मुझे जैसे बना रहे हों, ऐसे हँसने लगते हैं। अगर मेरा बस चले तो दोनो को एक-एक थप्पड़ लगा दूँ ; किन्तु शंकर जैसे तमाम कम्पनी का सरदार हो। कोई उससे कुछ नहीं कह सकता। यहाँ तक कि मालिक भी उसके सामने इस क़दर दब जाता है, जैसे शंकर मालिक हो और वह उसका नौकर। यदि मैं उसके साथ झगड़ा करूँ, तो इस कम्पनी में मेरा एक दिन भी रहना मुश्किल हो जाय।

यह तो मुझे कल ही मालूम हुआ कि तरुबाला भी शराब पीती है। नाटक ख़त्म होने के एक घण्टे बाद जब वह कमरे में आई, तो उसके पैर लड़खड़ा रहे थे, शरीर बेतरह काँप रहा था। उसके मुँह से अभी तक पाउडर भी नहीं उतरा था। मेरी इच्छा हुई कि उसे जल पिलाकर लिटा दूँ ; किन्तु उसके तेज़ मिज़ाज को याद कर कि नाहक वह क्रुद्ध हो जायगी, मैं महीन कपड़े से अपना मुँह ढँककर उसे देखती हुई लेटी रही।

उसकी आँखें भयानक और बड़ी हो गई थीं, जिन्हें देखते ही मैं तो काँपने लगी ; किन्तु कुछ देर बाद वह बिछौने पर सो गई और एकदम नींद में बेहोश-सी हो गई।

अफ़सोस ! स्त्री भी शराब पीती है। यह नाटक कम्पनी तो जैसे दुनिया से ही निराली है।

मुझे पाँच बजे तक नींद न आई और तरुबाला दूसरे दिन बारह बजे सोकर उठी।

❀ ❀ ❀

ता० १६ सितम्बर, १६...

अब मैं नाटक के रिहर्सल में हिस्सा लेती हूँ। यद्यपि ऐक्टिंग अब भी अच्छी तरह नहीं कर सकती, फिर भी अच्छा गाती हूँ। अगर मेरी घबराहट कुछ कम हो जाय, तो और भी सुन्दर काम कर जाने की आशा है; किन्तु अब भी मैं इन लोगों के साथ अच्छी तरह हिलमिल नहीं सकी हूँ। दूसरे नट आदि तो कभी-कभी जानवर-जैसे विचित्र दिखलाई पड़ते हैं। उसमें भी जब वे छोटे-छोटे छोकरे चटक-मटक करने लगते हैं, तब तो बात ही मत पूछो...

इतने गन्दे होते हैं कि देखते ही क़ै होने लगे, ज़रा-ज़रा-से छोकरे और मुझ-जैसी उम्र की स्त्री से मज़ाक! वे जो कुछ बोलते हैं शायद इसका अर्थ भी न समझते होंगे।

कल मैंने अच्छा काम किया। इससे मालिक भी मुझ पर ख़ुश मालूम होते थे।

❀ ❀ ❀

ता० २१ सितम्बर, १६...

वे नये कविराज भी बड़े रँगीले लगते हैं। वे नाटक लिखना और नटों के साथ खेलना सब कुछ जानते हैं। पहले आप तरुबाला पर मेहरबानी रखते थे; किन्तु अभी-अभी मेरी तरफ़ झुकाव हो चला है। पिताजी जिसे भावना कहा करते थे; ऐसा कुछ भी आपके नाटक में नहीं होता। टेढ़ी टोपी, खुला कोट, मुँह में बनारसी पान दबाये जब तशरीफ लाते हैं, तो ऐसे लगते हैं जैसे लखनऊ के नवाब!

पिताजी तो ऐसों को घर में खड़ा भी न रहने देते। इस दिमाग़ से भावना और नीति का क्या सम्बन्ध हो सकता है?

❀ ❀ ❀

ता० २६ सितम्बर, १६...

आज मैंने अपना पार्ट ठीक किया, मालिक ने भी मेरे पास आकर

कहा—मिस वसन्तसेना। यह नाटक ज़रूर आपसे चमक उठेगा। मुझे इतना हर्ष हुआ कि साथ ही मुझे रोना भी आ गया। मैंने ऊपर देखा तो तरुबाला की आँखों से आग बरस रही थी।

शंकर उसके साथ बातचीत करता ; किन्तु मेरी तरफ़ प्रशंसा की नज़र से देखे बिना उससे न रहा जाता। शंकर चाहे जैसा भी हो, किन्तु उसका अभिनय अपूर्व था जैसा शायद ही किसी और नट का होगा। शंकर द्वारा प्रशंसा प्राप्त करना कुछ मामूली बात नहीं है। जैसे जैसे मैं रोज़ शंकर के संसर्ग में आती हूँ, वैसे ही वैसे उसमें कुछ अधिकाधिक खूबियाँ दिखलाई देती हैं।

केवल वह मेरे साथ कुछ और अच्छा बर्ताव करता, तो मैं दिखा देती कि तरुबाला की अपेक्षा मैं हर बात में कुछ बढ़-चढ़कर हूँ।

मैंने अनुमान लगाया था, उससे यह जीवन कुछ विशेष ख़राब नहीं है और अब तो सब लोग मेरे साथ अच्छा बर्ताव करते हैं। वह प्राणजीवन—जो विदूषक का पार्ट करते-करते स्वयं विदूषक-जैसा हो गया है—मेरा आदर करता है। यद्यपि उस पर और शंकर पर तमाम बम्बई फ़िदा है ; किन्तु ऐसा एक दिन ज़रूर आयेगा जब इन दोनो से मैं आगे बढ़ूँगी। तरुबाला तो किसी गिनती में नहीं रहेगी।

तरुबाला अभिनय सुन्दर करती है और गाती भी अच्छा है ; किन्तु उसके गालों में खड्डे पड़ गये हैं औ आँखों में एक तरह की बनावट नज़र आती है। वह ज़रूरत से ज्यादा अभिनय (Over-acting) करती है। जब नाटक होता है, तब मैं विंग में बैठी हुई सबको देखा करती हूँ। सबसे अच्छा शंकर रहता है अब तो मुझे नाटक की चाट-सी लग गई है। जी में यह होता है कि कब रात आये और कब मैं स्टेज पर पहुँचूँ !

* * *

ता० २६ सितम्बर, १६...

आज दोपहर को जब रिहर्सल हो रहा था, तब मैं किसी कार्य से अन्दर गई और वापस आते समय शंकर सामने मिल गया। सब चले गये थे। वहाँ पर कोई न था। मैं उसके सामने देखे बिना चली जा रही थी कि इतने में...हाय-हाय ! लिखते हाथ काँपता है, मैं ज़बर्दस्ती उसके बाहुपाश से छूटकर दौड़ी। मेरे दिमाग़ में चक्कर आ रहे थे, मैं सीधी अपने कमरे में जाकर बिस्तरे पर पड़ रही, मेरा हृदय धड़कने और रग-रग फड़कने लगा। मेरे जेठ ने मेरे ओठों का स्पर्श किया था, उससे भी आज कुछ अधिक हुआ था। उस समय मैं बालिका थी, भय से बेहोश हो गई थी। आज भी भय तो था ; किन्तु वह मेरा बनाया हुआ, माना हुआ भय था।

मैंने उसे भरसक गालियाँ दीं। कुछ देर पश्चात् मैं मुँह धोकर जब वापस गई, तो शंकर अपनी जगह पर बेफ़िक्री से बैठा था, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। और, मेरा उस समय वहाँ काम नहीं था, इसलिए मेरी गैरहाजिरी किसी के ध्यान में नहीं आई। तरुबाला कौए की दृष्टि से, कुछ चौकन्नी होकर बार-बार मेरे और शंकर के मुँह की तरफ़ देख रही थी।

यह लिखते समय भी दोपहर की वह घटना जब याद आती है, तो जी कैसा हो जाता है ! किन्तु सच पूछिये तो जैसा मेरा अनुमान था, वैसी कुछ हालत नहीं हो रही है। यद्यपि मुझे शंकर पर ख़ूब गुस्सा आ रहा है ; किन्तु न जाने क्यों मुझे एक तरह की सुखमय अनुभूति मालूम हो रही है और शंकर के प्रति जो क्रोध था, वह भी कम हो रहा है।

वनमाला ! सावधान ! क्या उन दुःखों को इतनी जल्द भूल गई ? भूल न करने की वृत्ति होते हुए, एक भूल ने तुझे बिना घरबार की बनाकर छोड़ा था, फिर यदि भूल की, तो फिर तेरा निस्तार नहीं।

ओ माता ! मुझे बचाने के लिए तू भी क्यों न बच रही ? तू जीवित रहती और पिताजी टेढ़े न होते और मैं गिरीश के साथ ब्याही जाती, तो आज यह दशा क्यों होती ? मा ! तू अपनी अभागिनी पुत्री की दुर्दशा पर स्वर्ग में आँसू बहाती होगी। मा ! मेरी मा ! मुझे बचा। इस पाप-पङ्क में गिरती हुई की रक्षा कर।

मा, तुझे याद करने से जी कुछ शान्त हुआ। ज्यों-ज्यों मेरी प्रार्थना के शब्द इस कागज़ पर पड़ते हैं, त्यों-त्यों मुझमें एक प्रकार का बल आ रहा है। मा ! क्या तू मेरे ही पास है ? ज़रूर तू मेरी रक्षा करेगी। मेरी तमाम दूषित भावनाओं का नाश करेगी।

❀ ❀ ❀

ता० ९ अक्टूबर, १९...

नया खेल होने में सिर्फ एक सप्ताह और बाक़ी है। अभी तो ज़ोर-शोर से तैयारियाँ हो रही हैं। किसी को एक मिनट की भी फुर्सत नहीं मिलती। मेरा पार्ट मुख्य नायिका का है। मेरी पोशाक भी बड़ी सुन्दर है। यह देखकर ही मेरा मन अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है, और इसे पहनकर जब मैं स्टेज पर आऊँगी, तब कैसी दिखूँगी। मुझे उसी के सुख-स्वप्न आया करते हैं।

इतनी सब मुसीबतों के होते हुए भी मेरी तबीयत ठीक रहती है। आईने में अपना चेहरा देखकर मुझी को हँसी आ जाती है।

यह रूप किस लिए ? चाहे किसी के लिए न हो ; किन्तु मैं सदा इसी तरह सुन्दर रहने की कोशिश किया करूँगी। यदि अपने आप को सुख मिलता हो, तो ऐसा करने में क्या हानि है ? कल 'ग्राउण्ड रिहर्सल' है।

❀ ❀ ❀

ता० १३ अक्टूबर, १९...

आज 'ग्राउण्ड रिहर्सल' था। मैंने कपड़े पहने और चेहरे पर ज़रा-

पाउडर और रंग लगाकर आईने में देखा, तो मुख इतना बदल गया था कि मेरी छाती धक्-धक् करने लगी। मैं पन्द्रह वर्ष की-सी लगती थी।

मैं स्टेज पर गई, तब नट-मंडली और पब्लिक कुछ देर तक तो मुझी को देखती रही। शंकर मुझे पर्दे के पीछे मिला। मुझे देखकर वह एकदम ठहर गया और मेरा हाथ पकड़कर मुझे जाने से रोका। मैंने हाथ छुड़ाना चाहा; किन्तु उसने छोड़ा नहीं। 'मुझे क्या मालूम था सेना, कि तुम इतनी सुन्दर लगोगी! सचमुच मेरे लायक़ ही मुझे प्रियतमा मिली है।'—यह कहकर वह हँसता हुआ चला गया।

* * *

ता० २७ अक्टूबर, १६...

मैं कल शंकर की हो चुकी। न मालूम यह कैसे हो गया। पहले जो भय था वह एकदम जाता रहा। पहले की-सी उधेड़-बुन भी अब नहीं रही। किन्तु अभी तक यह समझ में नहीं आया कि यह सब कैसे हो गया।

शनि और रविवार की कड़ी मेहनत से कल रात को मैं बहुत थक गई थी। इतनी सफलता मिलने पर कमरे में अकेले जाना भी एक तरह से अरुचिकर लगता था। जी में आता था कि कोई मुझे हृदय से लगाकर मेरे आनन्द का बोझ हलका कर दे।

उसी समय शंकर आया। मेरी हरारत मिटाने के लिए उसने कुछ दवा निकालकर दी। मैंने उसे पिया। कुछ देर बाद तो मैं बालक की तरह उसके अधीन हो गई। जब मैं पूरी होश में नहीं होती हूँ, उस समय मुझे उसके साथ पार्ट करते-करते ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे वह मेरा पति ही हो।

इन दिनों तो मुझे उसी के स्वप्न आते रहते हैं। केवल जाग्रतावस्था में मेरे उच्च संस्कार उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

किन्तु अब तो ऐसा भी नहीं है। मैं किस लिए उससे घृणा करूँ? जिस तरह की दुनिया में प्रवेश करने पर मुझे इतनी विजय मिली, क्यों न मैं भी उसी तरह की बन जाऊँ? मुझे पहली दुनिया से अब क्या वास्ता है! उसने मुझे दर-दर भटकाया, मेरे निष्पाप हृदय में पाप के अंकुर रोपे, बिना दोष मुझे पतिता ठहराया, मैं उसके नियम क्यों मानूँ, किस लिए मानूँ?

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं शंकर से कोई खास स्नेह रखती हूँ। यद्यपि उसके पास जाने की मेरी इच्छा होती है; किन्तु फिर भी उसके पास होने पर उसके प्रति एक प्रकार की घृणा होती है। मेरा शरीर उसकी तरफ़ खिंचता है, मेरी आत्मा उससे दूर भागना चाहती है; किन्तु अब तो वह और मैं दोनो एक हैं, दोनो की गति एक है। क्या सचमुच मुझमें कुछ ऐसा है, जो ये लोग मेरी तारीफ कर रहे हैं? मुझे यश मिलेगा, द्रव्य मिलेगा और फिर मैं समाज द्वारा परित्यक्ता भिखारिन नहीं; किन्तु उसके हृदय पर हुकूमत करनेवाली रानी बनूँगी। मुझे देखकर उनकी स्त्रियाँ मुझ जैसी होने की कोशिश करेंगी, मेरी चाल का अनुकरण करेंगी, मेरी-सी आवाज़ बनाने की इच्छा रखकर गाना सीखेंगी, मेरी छटा देखकर वे भी शौक़ीन बनेंगी, मुझ जैसी दिखलाई देने में वे अपना गौरव समझेंगी, और यह सब उन लोगों द्वारा तिरस्कृत, परित्यक्त वनमाला द्वारा होगा। वनमाला कैसी! वह तो मर गई, वसन्तसेना द्वारा होगा।

जिस दुनिया में मैंने जन्म लिया था, आज से उस दुनिया का सम्बन्ध मुझसे बिलकुल टूट गया। अब मैं कोई नहीं, किसी की नहीं। मुझे अब किसी की परवाह नहीं। मैं, यानी मैं, मैं चाहे जैसा करूँ, कौन रोक सकता है?

मा! तू जीवित रहती तो मेरी विजय पर कितनी खुशी मानती! नहीं, खुशी क्या मानती? तू होती तो मुझे ये दिन ही क्यों देखने

पड़ते ! अच्छा ही हुआ तू न रही ; वरना आज का-सा दिन कभी न आता ।

जीवन की उदासीनता और निराशा कुछ भी याद नहीं । अपमान और निराधारता के दिन भी याद नहीं, केवल मेरी नज़रों में एक चीज़ है, विजय और उसकी परम्परा, विजय, विजय, विजय ! अरे, सवेरा होने को आया । । यह प्रमाद छोड़कर सो लिया जाय तो अच्छा । नहीं तो आज दिन के खेल में जमुहाइयाँ आयेंगी । निद्रा, निद्रा विजय की निद्रा !

शंकर के पास पार्ट करना सीख-सीखकर उसके स्पर्श से होनेवाली अरुचि अब क़तई नहीं रही है । इस लाइन में मर्दों को छुये बिना कैसे काम चले ? और अब कहीं वापस जा सकती हूँ ?

मैं सुन्दरी हूँ, इस धारणा के प्रभाव से या न जाने क्यों, आज मुझसे पार्ट अच्छा हुआ । तरुबाला के सिवा सब लोगों ने मेरी खूब तारीफ़ की । शंकर तो, इस प्रकार खुश हो गया, जैसे मैं उसी की स्त्री हूँ, और प्राणजीवन ने भी इस लाइन में मेरी उन्नति की भविष्यवाणी सुना दी ।

इस समय तो थक चुकी हूँ । आज जैसा हुआ, क्या उतना ही सुन्दर नाटक रोज कर सकूँगी ? विज्ञापनों में तो अभी से मेरी तारीफों के पुल बँध रहे हैं ; किन्तु मैं सफल उतर सकूँगी ?

मैंने इस तरुबाला का क्या बिगाड़ा है ? अब शायद ही वह मेरे साथ कभी दो बातें करती है !

❀ ❀ ❀

ता० २४ अक्टूबर, १६...

मालिक को कुछ कचाई मालूम ही होगी, इसलिए फिर दो-तीन बार रिहर्सल किये गये । मेरा धड़कता हुआ हृदय केवल कल की ही राह देख रहा है, कल क्या होगा, मैं सफल हो सकूँगी ?

❀ ❀ ❀

ता० २५ अक्टूबर १६...

पास, पास, मैं पास हो गई ! लोगों की तालियों की तड़तड़ाहट अभी तक मेरे कानों में गूँज रही है ! किसी सुन्दर स्वप्न की तरह सब अच्छी तरह हो गया। सवेरा हो गया। किन्तु मेरी आँखों में नींद कहाँ ! मुझे तो केवल मानव वृन्द और रंग-भूमि के पर्दे ही नज़र आ रहे हैं।

उसमें कोई ऐसा जादू दीखता है कि मैं उसे चाहे जितना धिक्कारूँ, फिर भी उसके पास गये बिना मुझसे नहीं रहा जाता।

❀ ❀ ❀

ता० ३० नवम्बर, १६...

आज कई दिनों बाद लिखने बैठी हूँ। हृदय हलका करने के लिए मुझसे लिखे बिना रहा नहीं जाता। अब तो मैं डायरी हाथ में लेते हुए भी डरती हूँ, मुझे जो-जो याद है, क्या सब लिख बैठूँ ? दिनों-दिन मैं अधःपतन के गढ़े की गहराई में उतरती जा रही हूँ, जिसे लिखते हुए काँप उठती हूँ। मेरे लिए इन सब को भूल जाने का अब केवल एक ही मार्ग बाक़ी रहा है—शराब।

तरुबाला अब पहले की तरह मुझसे खिंची हुई नहीं रहती। क़रीब-क़रीब हम दोनो अब एक ही कक्षा में आ बैठी हैं। शंकर भी यही समझता है। उसकी जिस पर इच्छा हो, उसी को वह बुला सकता है।

तरुबाला पर मैं ज़रा भी डाह नहीं करती। किस लिए करूँ ? मैं शंकर को नहीं चाहती, सच तो यह है कि अपने आन्तरिक हृदय से मैं उसे धिक्कारती हूँ।

वह मुझ पर एक प्रकार की सत्ता, रोब जमाये हुए है इसलिए यन्त्रवत् मुझे उसकी इच्छानुसार चलना पड़ता है ; किन्तु किसी समय तो वह रात्रि के अन्धकार में सोता मुझे इतना भयानक और घृणास्पद लगता है कि उसका गला घोंट देने का मन हो जाता है।

यह सब लिखते-लिखते मैं पागल हो जाऊँगी, शराब...शराब...

* * *

ता० १७ जनवरी, १९...

नया खेल हुआ। इसमें मुझे पहले से भी अधिक यश मिला। किन्तु ऐसे यश से अब पहले की तरह आनन्द के फौवारे नहीं छूटते। आजकल मेरा कमरा कुछ आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे उल्लुओं के भेजे हुए पत्रों और तोहफों से लदालद भरा रहने लगा है। कभी कभी ऐसे बन्दर मुझसे मिलने के लिए आते हैं। मेरी चाहे जितनी खुशामद करते हों, मेरी कला से आकर्षित होकर आनेवाला इनमें से शायद ही कोई होगा।

* * *

ता० २ फरवरी, १९...

वनमाला के जेठ वसन्तसेना के पुजारी बनकर मिलने के लिए आये! कितना विचित्र! क्या उन्हें स्वप्न में भी ख़याल हुआ होगा कि किसी समय की, गरीब, बरतन मलनेवाली वनमाला मैं हूँ! मेरा रंग-रूप, रंग-ढंग इतने बदल गये हैं कि इनके जैसे तो कितने ही मेरे पैर चूमते हैं।

इन लोगों की दशा पलट गई मालूम होती है। दारिद्र्य की वह प्रत्यक्ष प्रतिमा दिखते थे, उनके मुँह और सारे शरीर पर पाशविकता अपना अमिट चिह्न अंकित कर गई है, उन्हें देखकर क्रोध और तिरस्कार के बदले मुझे तो दया ही आई।

मैं चाहे जैसी हूँ, किन्तु इस नराधम के पंजे में तो फँसी हुई नहीं हूँ। मेरा वर्तमान जीवन, चाहे इसे अधमता कहिये, चाहे उत्क्रान्ति, मुझे तो इतना अच्छा लगने लगा है कि यदि सौ सुख मिलते हों, तो भी मैं पहले का जीवन पसन्द नहीं करूँगी।

* * *

ता० ४ मार्च, १९...

करीब दो सप्ताह से बीच की कुर्सी पर एक आदमी आकर बैठता है। प्रायः वह प्रत्येक खेल में आता है और उसी कुर्सी पर बैठता है। उसे देखने की मुझे भी इतनी उत्कण्ठा बनी रहती है कि उसे न देखने पर मेरा मन भी बेचैन होने लगता है।

मेरा अनुमान है कि वह मुझी को देखने के लिए आता है ; क्योंकि मेरे प्रवेश के पहले वह वहाँ कभी नहीं आता और बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से मुझे देखता हो, ऐसा मालूम होने लगता है।

मैंने इस मनुष्य को कहीं देखा है। आधा अँगरेज हो, इस तरह वह कपड़े पहनता है। दूसरे सब लोगों से यह विचित्र लगता है। उसके चेहरे से सज्जनता झलकती है। वह कौन है ! न उसने अभी तक कोई भेंट या पत्र भेजा है और न मुझसे मिलने के लिए कभी यत्न किया है, फिर भी वह हमेशा क्यों आया करता है ? मैंने इसे देखा है, लेकिन कहाँ !

* * *

ता० ९ मार्च, १९...

आज भी वह आया था। अब तो मुझे कुछ बेचैनी होती है। वह क्यों आता है ? क्या देखता है ? सब नट मेरा मज़ाक उड़ाते हैं, उसमें शंकर और प्राणजीवन तो ख़ास हैं।

यह पहला ही मौक़ा है कि शंकर को ईर्ष्या उत्पन्न होने लगी है। प्राणजीवन भी आजकल मुझ पर बड़ी बारीक नज़र रखने लगा है। मुझे शंकर को चिढ़ाने में इतना मज़ा आता है कि उसे दिखा-दिखाकर मैं प्राणजीवन के साथ खूब छेड़-छाड़ किया करती हूँ। क्या कारण है कि वह चाहे जो करे और मैं कुछ न करूँ !

* * *

ता० २३ मार्च, १९...

आजकल मैं आवश्यकता से अधिक शराब पीने लगी हूँ। मेरे गाल में भी गढ़े पड़ने लगे हैं और तरुबाला की तरह मुझमें भी अब बनावट का अंश पैदा होने लगा है, कभी-कभी तो मेरी विचार-शक्ति भी नष्ट हो जाती है।

किन्तु वह मनुष्य! क्यों वह रोज़ रोज़ आता है? मुझमें होते हुए परिवर्तन देखकर उसकी आँखों में कुछ निराशा और उलहना नज़र आ रहे हैं—शायद ऐसा न भी हो, मुझी को अपने दिमाग़ की कमज़ोरी से ऐसा भ्रम होता होगा; किन्तु वह इस तरह रोज़ आता ही रहेगा तो मैं पागल हो जाऊँगी।

* * *

ता० १० अप्रैल, १९...

आज मेरे अधःपतन की चरम सीमा थी। शंकर तरुबाला और मैं, साथ बैठकर शराब पी रहे थे। शंकर ने तरुबाला के साथ 'कुछ' किया। इस पर मुझे गुस्सा आ गया। यद्यपि ऐसा अक्सर होता था, किन्तु गुस्सा कभी नहीं आया पर आज ही न जाने क्यों हम लोगों में तकरार हो गई। गुस्से के मारे मैं चली गई, और अपने कमरे में जा रही थी कि रास्ते में प्राणजीवन मिला। मुझे कुछ होश नहीं था। उसने मुझे क्या कहा यह भी याद नहीं; किन्तु सवेरे आँख खुली तब मैं प्राणजीवन के कमरे में थी। ख़ैर, यह भी ठीक हुआ। वह शंकर कहाँ का बड़ा आदमी है, जो मेरा मालिक बनता है? जब नरक में जाना ही है, तो फिर खुलकर जो कुछ कर लिया जाय सो ठीक है। करे वह तरुबाला के साथ मौज! मेरी अनुपस्थिति में उसे मालूम पड़ेगा कि मैं तरुबाला से हज़ार दर्जे अच्छी थी। प्यास लगने पर ही मीठे पानी की क़ीमत समझ में आती है।

* * *

ता० १७ अप्रैल, १९...

शंकर ने तरुबाला को छोड़ दिया। वह तो केवल मुझे अधिकाधिक चिढ़ाने की ग़रज़ से ही उससे मेल जोल रखता था। उसका यह ख़याल था कि ईर्ष्यावश मैं उसे छोड़कर नहीं जाऊँगी। अब तो वह पछताता है और पागल की तरह मेरे और प्राणजीवन की तरफ आँखें निकालता रहता है। शराब भी खूब पीता है; किन्तु मैं तो अब उसकी तरफ देखूँगी भी नहीं।

थोड़े दिनों से वह भी नहीं आता। मैं हमेशा उसकी कुर्सी की तरफ नजर दौड़ाती हूँ; लेकिन उसके बदले दूसरे ही आदमी बैठे हुए होते हैं; मुझे निराशा तो होती है, किन्तु वह नहीं आता यह ठीक ही है, नहीं तो मैं अपना पार्ट ठीक नहीं कर सकती। अब तरुबाला और मुझमें फिर मेल हो गया है।

* * *

ता० २ मई, १९...

अब तो मेरा उद्धार जन्म-जन्मान्तर के लिए असम्भव हो गया। मेरे लिए अब दिनों-दिन नीचे पतन की ओर जाना ही बाकी रहा है। रविवार का दिन था। नाटकशाला ठसाठस भरी हुई थी। आज फिर वह आदमी आकर अपनी जगह पर बैठा था। उसे बहुत दिनों के बाद आज फिर आया देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।

नाटक पूरा होने पर मैं और तरुबाला ड्रेसिंग रूम में कपड़े बदल रही थीं। इतने में मालिक ने आकर कहा कि 'गिरीश पण्ड्या' नामक एक व्यक्ति आपसे मिलना चाहता है। मेरे लिए ऐसी मुलाकातें कोई नई नहीं थीं। मैंने उसे यहीं पर भेज देने के लिए कह दिया।

कुछ देर बाद वही मनुष्य दरवाजे पर आकर खड़ा हो गया। इस 'गिरीश पण्ड्या' के नाम के साथ-साथ मुझे और भी कुछ याद आया। हमारा पड़ोसी और माता की सहेली का लड़का तो वह नहीं है?

वह आकर दरवाजे पर ही खड़ा रहा, कुछ विचार में वह थोड़ी देर तक कुछ भी न बोला, मैं भी साँस रोककर उसके बोलने की राह देखने लगी।

'मिस वसंतसेना! तकलीफ देने के लिए क्षमा कीजिये। किन्तु मुझे...मुझे बहुत दिनों से ऐसा लगता था कि आप'— वह कुछ पशो-पेश में पड़ा हो इस तरह थोड़ी देर रुका, और फिर कहना शुरू किया—'मेरी जान-पहचानवालों में एक लड़की थी वह आप ही हैं। मैं बहुत समय तक विलायत रह आया हूँ। लौटने पर मालूम हुआ कि वह कहीं खो गई हैं; किन्तु जब से मैंने आपको देखा है, तब से अचानक मन में यही बात उठी है कि वह आप ही हैं। आप मास्टर प्रमोदराय की कन्या वनमाला तो नहीं हैं?'

क्षण भर के लिए मेरा हृदय बन्द हो गया। धुँधली स्मृतियों ने बाल्यावस्था में हृदय में धारण की हुई किसी मूर्ति के साथ असंख्य प्रसंग ताज़े कर दिये। मेरी आत्मा इस नरक में से मुक्ति पाने के लिए ललचा उठी।

किन्तु नहीं, मेरे लिए मुक्ति इतनी सरल नहीं थी। मेरी आँखों ने उसके शरीर में पुरुषत्व और प्रामाणिकता की छाप देखी; किन्तु साथ ही उसमें एक तरह के भय, सङ्कोच और आत्ममन्थन का भाव भी मैं स्पष्ट देख रही थी। मैंने दृढ़ता से उत्तर दिया—जी नहीं, मैं वह नहीं।

बहुत समय तक जिस प्रेम की आराधना की हो, उसके प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण हुआ समझकर उसके ललाट की रेखाएँ संतोष से सीधी हो गईं। एक वेदना भरे हुए नमस्कार के साथ वह बाहर चला गया। मैं तरुबाला की तरफ फिरी और उसकी राह देखे बिना ही पास में पड़ी हुई बोतल में से एक प्याली भरकर चढ़ा गई। तरुबाला ताज्जुब से देख रही थी। 'वह कौन था?' 'होगा कोई,' पूरा जवाब

दिये बिना ही मैंने दूसरी प्याली भरी। जीवन और जगत् की पाखण्ड-वृत्ति पर मेरा हृदय अट्टहास कर उठा। तरुबाला को ताज्जुब करती हुई छोड़कर मैं अपने कमरे में आने के लिए वहाँ से उठ खड़ी हुई।

किस लिए ऐसी निस्सार जिन्दगी को महत्त्व दूँ? इतना ही समय यदि शराब पीने में अधिक ख़र्च करती, तो कितना अच्छा होता!

माँझी-कन्या

नीले समुद्र के विस्तीर्ण क्षितिज पर उसकी दृष्टि गड़ी हुई थी। खिलते हुए यौवन की प्रचंड ऊर्मियों की भाँति, अगम्य के पटल में से सहसा जागकर किनारे की ओर दौड़ते, पछाड़ खाते, लास्य और तांडव-नृत्य करते, किसी भव्य गहन-गम्भीर संगीत के स्वर पैदा करते, दूर तक फैले हुए तीर-प्रान्त के हृदय में ओतप्रोत होने का अथाह प्रयत्न करते मौजों को, तरंगों को, मानो वह गिन रही थी। उन तरंगों से मानो उसकी सदैव की—युग-युग की दोस्ती हो; अन्तर-पटल में छिपा

मानो वे उसके लिए कोई गूढ़ संदेशा लाते हों, इस प्रकार टकटकी लगाये वह उन्हें देखा करती है। कल ही तो उसके पिता ने उससे एक अजीब कथा कही थी—

रूपा ! उधर जहाँ कि वे तरंगें कुछ मुड़ती हुई दिखाई देती हैं, तेरी माता डूबी थी। उस समय तू डेढ़ वर्ष की थी। तेरी नानी भी तेरी माता को डेढ़ वर्ष की छोड़कर इसी प्रकार, उसी स्थल पर डूबी थी। तेरी मा, तेरी नानी, और नानी की नानी सब—पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी प्रकार मरी हैं। बेटी ! मैं तुझे सावधान कर देता हूँ। पानी से दोस्ती अच्छी नहीं। छोड़ दे इस मैत्री को !

'पानी से दोस्ती अच्छी नहीं'। छोड़ दे इस मैत्री को !' कैसी विकट बात ! ममता-भरे पिता के हृदय को कैसे आघात पहुँचाया जा सकता है। पर एक झाँकी-कन्या पानी से दोस्ती न करेगी तो किससे करेगी ? और वह स्थल ! जहाँ पर उसकी माता डूबी थी, और जहाँ नानी की मृत्यु हुई थी—ओह ! वह तो उसका प्रिय स्थल है, उसकी प्रिय झाँझरी है। उस स्थल के फेनिल तरंगों के खेल, वहाँ पर उठते प्रचण्ड भँवरों का निरीक्षण—यह तो उसके जीवन का परमानन्द है, उन्हें देखकर तो वह पागल हो उठती है। उस स्थल के तरंगों का घुमाव, मोड़ कितना भव्य था; पर कितना भयंकर भी ? रसिक लोगों ने उसे जल-सुन्दरी के पैरों की झाँझर—नुपूर—की उपमा देकर उसे 'झाँझरी' पुकारना शुरू कर दिया था। कितनी बार उसने अकेली ही, उस झाँझरी पर अपनी छोटी-सी डोंगी को नचाया है। कितनी बार तरंगों पर आँख-मिचौनी खेलते, इधर से उधर दौड़ लगाते अपने शिकार को देखकर, किसी नर्तकी के नुपूरों से निकलते मादक स्वरों की भाँति, उसके रोम-रोम पुलकित हो उठे हैं। और उसी झाँझरी में उसकी माता, मातामही प्रगाढ़ निद्रा में लेटी हुई हैं। हाँ, वह तो उसका पूज्य मातृ-गृह है।

कन्या क्या मैके न जायगी ? इसमें डर क्या ? किन्तु उसी समय रूपा के मन में विचार उठा—

'दादा !'—वह बोली—मा और नानी सब शादी के बाद ही डूबी थीं न ?

'हाँ !'—पिता ने कहा।

'तो मैं शादी ही न करूँगी। शादी करूँगी, तब ही तो डूबूँगी न !'

'पगली कहीं की ! लड़कियाँ भी कहीं क्वाँरी रहती हैं ?'

'न, मैं शादी न करूँगी। मैं अपनी दोस्ती नहीं छोड़ सकती, दादा।'

रूपा के पिता को रूपा की मा याद आई। कितनी प्रेममयी थी वह ! उसके एक-एक शब्द को झेलने के लिए वह तत्पर रहती। पर थी वह इतनी ही हठीली, इतनी ही ज़िद्दी। वह जानता था, रूपा पर ज़बरदस्ती करना सम्भव न था; उसने दूसरी बातें छेड़ दीं। पर रूपा के विचार कहाँ थे !

मा झाँझरी में लेटी हुई हैं, इसी से शायद झाँझरी मुझे रोज़ बुलाती है। और पिताजी कहते हैं, वहाँ मत जाओ। भला ऐसा भी हो सकता है ? ठीक है, मैं शादी ही न करूँगी।

आज समुद्र के जिनारे बैठी रूपा उस फैली हुई जल-राशि को और अपनी प्रिय झाँझरी को अनिमेष दृष्टि से देख रही है। उसके नेत्र मानो किसी समस्या को सुलझाने में लगे हैं। देवा और सोमा दोनो आने-वाले हैं। झाँझरी पर मिलने का उसने उन्हें वचन दिया है।

वरुण और सूर्य के आशीर्वादरूप उसकी श्यामता में से झरती उसकी मोहक कान्ति उसके अंग-प्रत्यंग से फूट-फूटकर निकल रही थी। रूपा सचमुच ही रूपा थी। गाँव का एक-एक युवक उस पर मर मिटने को तैयार था। पर रूपा के लिए तो देवा और सोमा ही सब-कुछ थे।

एक दिन वह मोटी-सी एक मछली कन्धे पर डालकर और अपने

सिर पर छोटी मछलियों की टोकरी रखकर चली जा रही थी। कन्धे पर जाल रखे देवा भी पीछे-पीछे चला आ रहा था। पैर से सिर तक देवा की दृष्टि रूपा के यौवन को पी रही थी। सिर पर पहनी मछली के खिसकने से रूपा का अंचल भी एक ओर खिसक गया, और सिर से लेकर कटि तक उसका सुन्दर अंग देखकर देवा पागल हो उठा। रूपा के कमर के नीचे की जाँघ, और पैरों के सुगठित स्नायुओं में उसे एक अजीब सौन्दर्य का भास हुआ। इस समय ठोकर लगने के कारण रूपा का टोकरा नीचे गिर पड़ा। देवा दौड़ा। बटोर-बटोरकर मछलियों को टोकरे में भरने लगा। वह मछलियों को बटोरता भी जाता था और रूपा के सौन्दर्य का पान भी करता जाता था। रूपा भी देवा के सुगठित शरीर को देखकर फूली न समाती थी। उसे देखकर हृदय क्यों नाचने लगता है, यह लहर क्यों दौड़ने लगती है हृदय में ? देवा बोला—

रूपा ! तेरा नाम...

'क्या ?'

'तेरा नाम रूपा किसने रखा री ?'

'क्यों ?'

'अगर मैं उसे जान जाऊँ तो डेढ़ मन की मछली पकड़कर उसे भेंट कर दूँ।'

'वाह रे ! यह क्यों ?'

'तू रूपा ही है, सचमुच, इसीलिए !'—और देवा रूपा की ओर मुस्कराया। रूपा का मुँह लाज-लाल हो आया।

'पागल मत बन, पागल ! मैं ऐसी-वैसी नहीं।'

पर देवा यह सुननेवाला कहाँ ? दुगुने उत्साह से बोला—

रूपा ! यह सौंदर्य, इतना सौन्दर्य तू किसके लिए संचित करके बैठी है री ?

रूपा के ओठ सिकुड़े, किन्तु जिह्वा पर आये शब्दों को निगलकर वह बोली—

बस...उस झाँझरी के लिए !

रूपा की और झाँझरी की दोस्ती गाँव में किसी से छिपी न थी। अतः देवा को इस बात से आश्चर्य न हुआ ; पर जिस उत्तर की प्रतीक्षा में वह था वह उत्तर न मिला। और ऐसे अच्छे अवसर को वह कैसे जाने दे ?

बात यों थी। देवा और सोमा दोनो बाल-सखा—सच्चे दोस्त थे। सहोदर भाई से भी अधिक स्नेह उन दोनो में था। साथ ही मछली मारने जाते, साथ ही तैरने निकलते, साथ ही घूमते, और दिन में एक वक्त तो अवश्य ही साथ खाते भी। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करते ही महात्वाकांक्षाएँ भी दोनो ने एक ही चुनीं। यदि एक को नौका-विहार के स्वप्न आते, तो दूसरे को भी आते। दोनो के हृदय में यौवन की ऊर्मियाँ उठने लगीं। रूपा दोनो की प्रेरणा-शक्ति बन गई।

आज रूपा को देखकर देवा अधीर हो उठा। आज जाकर वह सोमा को ये आनन्द के समाचार सुनावेगा। किन्तु उसे क्या मालूम था कि उसी दिन सुबह सोमा ने रूपा को जाल फेंकने में सहायता देते-देते प्रेम की बातें कह सुनाई थीं। किन्तु रूपा केवल मुस्कराई थी ; उत्तर कुछ भी न दिया था। और देवा भी इस अवसर को जाने देना न चाहता था। वह बोला—

रूपा ! एक बात कहूँ ? नाराज़ तो न होगी ?

रूपा जानती थी क्या बात होगी। किन्तु फिर भी वह उन मीठे शब्दों को सुनना चाहती थी। इसलिए बालों में से टपकते पानी के बूँदों को अंचल से पोंछती हुई बोली—

कह तो सही, कौन-सा ऐसी बात है, जिसे सुनकर मैं नाराज़ हो जाऊँगी ?

'रूपा ! तू मुझे कितनी अच्छी लगती है ?'—कह तो गया, पर डर के मारे एक क्षण के लिए देवा के नेत्र मुँद गये। कुछ देर बाद बोला—

रूपा ! तेरे पिता से कहूँ, हमारा ब्याह हो जाय ?

रूपा ने मुड़कर देखा, और मानो किसी के आगमन से घबरा उठी हो, बोली—देवा ! मगन और कानजी आ रहे हैं। टोकरा उठा तो ! सोमवार को तू और सोमा दोनो इसी समय अपनी डांगियाँ लेकर झाँझरी पर आ जाना, हँः ! और फिर वह चल दी।

रूपा के सामने विकट समस्या थी। किस का प्रेम स्वीकार करे, किसे अस्वीकार करे ! क्या वह देवा को स्वीकृति दे और सोमा को अस्वीकृति ? सोमा को स्वीकार करती है, तो देवा का मन दुखता है ; और अगर देवा को वचन देती है, तो सोमा को आघात पहुँचता है। पर वह तो दोनो से प्रेम करती है। दोनो को एक-सा ही प्रेम वह क्यों करती है ? ऐसा क्यों न हुआ कि वह सोमा को अधिक चाहने लगती और देवा को कम ! पर अब ! कौन-सा रास्ता निकाला जाय ? सोमवार के दिन दोनो को बुलाया है, पर उत्तर क्या देगी ? इन माथापच्चियों में पड़ने के बजाय पिता से ही क्यों न राय ली जाय ! जिसके साथ पिताजी शादी कर दें, वह पति हो जाय ; इसी के साथ वह जीवन बिता दे। बस यही ठीक होगा। पर पिताजी न मानें तो ! पर यह बेहतर न होगा कि किसी से शादी ही न की जाय ! हाँ, यही ठीक रहेगा। रूपा ने निश्चय कर लिया, बस वह किसी से शादी न करेगी।

आज सोमवार का दिन है। रूपा झाँझरी पर दृष्टि गाड़े बैठी हुई है।

* * *

रूपा का टोकरा उठाकर देवा सोमा से मिलने चल दिया। सोमा देवा की ही बाट जोह रहा था। वह तरस रहा था, कब देवा आवे

और वह आज सुबह के हर्ष के समाचार सुनावे। देवा को देखते ही उसने कहना शुरू कर दिया।

देवा कुछ अप्रतिभ-सा हुआ, पर सोमा की भी वही हालत हुई जब उसने अपने प्रेम की बात कह सुनाई। आज तक दोनो के हृदय स्वच्छ और सरल रहे थे, और आज? आज? देवा ने कहा—

सोमा! आज तक तू चुप क्यों रहा? अगर मुझे मालूम होता कि तू रूपा से प्रेम करता है, तो मैं आगे न बढ़ता, अपने आप को रोकता।

'पर तू क्यों चुप्पी साधे रहा!'—सोमा ने उत्तर दिया।

'हम दोनो ने भूल की है। एक दूसरे से कुछ न छिपानेवाले, हम दोनो ने अपराध किया है।'

पर अब उपाय?'

'उपाय! उपाय भाग्य, सोमा! यदि वह मुझसे शादी करने के लिए राज़ी हो, तो तू बुरा न मानना; और तुझसे शादी करने को राज़ी हुई तो मैं बुरा न मानूँगा। हम दोनो को सदैव की भाँति प्रेम बनाये रखना होगा।'

'अवश्य! इसमें भी कोई सन्देह हो सकता है? और अगर वह भी भाई-भाई के बीच मन-मुटाव पैदा करने की कोशिश करे तो उससे कह दिया जाय - रूपा! रास्ता नाप! पर देवा! रूपा, रूपा ही है। अगर वह तेरे नसीब में बदी है, तो विश्वास रखना, मैं कदापि नाराज़ न होऊँगा; पर...पर...फिर शादी तो किसी और से न करूँगा।'

'पर...तुझे एक वचन देना होगा।'

'क्या!'

रूपा का पहला बालक मुझे देना होगा।'

'क्यों?'

'क्यों...क्योंकि उस बालक में तुम दोनो होगे—रूपा और तू। मेरे

पास से तू रूपा छीन ले जा सकता है, पर वह तो तुम दोनो को साथ लेकर आवेगा। अगर उसे मैं पा सकूँ तो भी काफी होगा।'

'वाह ! कैसा अच्छा विचार। मानो मेरे ही विचार तैने चुरा लिये हों'—छुटकारे की साँस लेते हुए सोमा ने कहा। विचारों का कैसा साम्य ! सच है, तभी तो हम दोनो एक ही स्त्री को प्रेम करते हैं !

सोमवार का दिन आया। आज रूपा से मिलना है। चल दिये दोनो। राह में दोनो बातें करते जा रहे थे।

'देवा ! हमने एक दूसरे को वचन तो दे दिया, पर रूपा से पूछा ही नहीं। माना कि उसकी शादी तुझसे हुई, पर अपना बच्चा देने से वह इनकार कर गई तब ?'

'ऐसा भी हो सकता है ? और...और अगर नकार जाय तो...'—देवा ने उस वाक्य को अधूरा ही रखा, और उसे सुधारते हुए कहा—क्यों इन वाद-विवादों में फसें ? उसी से पूछ लें। देखें तो वह क्या कहती है।

जब दोनो किनारे पर पहुँचे, तो देखा कि रूपा बैठी झाँझरी की ओर टकटकी लगाये देख रही है। देवा ने कहा—

रूपा ! यहीं पर बैठी है ? तैने तो झाँझरी पर आने के लिए कहा था न ?

'हाँ, पर फिर विचार आया, यहीं बैठकर तुम लोगों की राह देखूँ।'

प्रातःकाल के सूर्य की मनोहर किरणें समुद्र के लहराते पानी में प्रतिबिम्बित होकर रूपा के मुख पर एक अजीब आलोक फैलाकर मादकता उत्पन्न कर रही थीं। सोमा और देवा इस रूप को देखकर मुग्ध हो गये। सोमा बोला—

रूपा, आज तो तुझे ही कहना होगा। देख तो, हम दोनो सगे भाई-से हैं। मैं मूर्ख था कि मैंने देवा से अपने प्रेम की बात न कह दी। ख़ैर ! पर देख, हमने निश्चय किया है—चूँकि रूपा एक है, उसका

पति भी एक होगा, इसलिए जिस पर भाग्य देवी प्रसन्न होंगी, तेरा पति वही बनेगा। पर दूसरा उससे ईर्ष्या न करेगा। और हमने यह भी निश्चय किया है कि रूपा का पहला बालक उसे भेंट दिया जायगा, जो तुझे पाने में असफल रहेगा। समझी रूपा ?

रूपा सुनती ही रही। मूक, निश्चेष्ट-सी। उसे लगने लगा, मानो उसका पूर्व संकल्प कहीं बहा जा रहा है। शादी न करने का विचार उसने क्यों किया था ? हाँ, वह दोनो को एक-सा प्रेम करती है, किसे हाँ कहे, किसे न ? किन्तु अगर दोनो को नकारती है तो दोनो को दुःख होता है न ! और फिर जब सोमा ने बालक की बात कही, तो उसके हृदय में कैसी उथल-पुथल-सी मच गई थी ! समुद्र की ओर देखा, उसके असंख्य लहरों को देखकर उसे प्रतीत होने लगा, मानो असंख्य बालकगण अपने नन्हें-नन्हें हाथ उठाकर उसे पुकार रहे हैं—उसकी ओर दौड़ चले आ रहे हैं। निश्चय करते समय यह विचार क्यों न आया था ? हाँ, ठीक तो है, वह संकल्प तो किया था उसके हृदय में बसे पत्नीत्व ने, किन्तु अब तो मातृत्व जाग उठा है। उसको क्या कहा जाय ? उसे कैसे शान्त किया जाय ? कुछ क्षणों तक तो उसे ऐसा लगने लगा, मानो छोटे छोटे बच्चे उसके चारों ओर हैं, और उनके सुखद मधुर स्पर्श से वह पुलकित हो उठी है। और सहसा एक विचार आया। दोनो को वह प्रेम करती है, चाहती है। एक की पत्नी बनकर क्या दूसरे की वह बहन नहीं बन सकती, इस प्रकार उसे सुखी नहीं कर सकती ? और उन्होंने ही तो कहा है, वे दोनो भाई-से हैं, भाई-भाई ही रहेंगे ? पहला बच्चा दूसरे को दिया जाय ! उसका वचन क्या मेरा वचन नहीं हो सकता ? वह बोली—

मेरी भी एक शर्त है। मैं तुममें से किसी एक से शादी करूँगी, किन्तु साथ रहेंगे हम तीनो ही। एक मेरा पति, दूसरा मेरा भाई। पहला बच्चा भैया का। ठीक है न ? मंजूर ?

दोनो के मुख मण्डल खिल उठे। 'मंजूर ! मंजूर !'—दोनो बोल उठे।

भाग्य देवी वरमाला किसके गले में पहनाती है, दोनो मित्र उत्कण्ठा से इसकी बाट जोहने लगे। रूपा फिर विचार-तरंगों में फँस गई। मित्रों के हृदय हल्के हुए, किन्तु रूपा का हृदय ? तूफान ! तूफान ! उस अपार जलराशि पर दृष्टि गाड़े रूपा देखती रही, देखती ही रही। झाँझरी की सहसा याद आते ही उसे एक विचार हुआ। वह बोली—देखो भाई ! तुम दोनो से मैं एक-सा प्रेम करती हूँ। जो झाँझरी कहेगी, मैं करने को तैयार हूँ। कूद पड़ो। तैरकर जो झाँझरी पर पहले पहुँचेगा, वह मेरा पति ; दूसरा मेरा भाई।

दोनो पागल हो उठे। शर्त मंजूर की गई। कपड़े उतार, फेंककर दोनो समुद्र में कूद पड़े। और लो !—उन उछलती तरंगों पर उनके हृदय झूलने लगे। रूपा देखती रही। कितने वेग से दोनो तैरते चले जा रहे हैं ! दूर पर अपने शिकार को देखकर जिस प्रकार सिंह दहाड़-कर झपटता है, धनुष में से छूटा हुआ तीर जिस प्रकार वेग से चला जाता है, ठीक उसी प्रकार झाँझरी पर टकटकी लगाये दोनो मित्र पानी काटते चले जा रहे हैं—कभी तरंगों पर झूलता हुआ सोमा दिखाई देता है, तो कभी देवा। कौन जल्दी पहुँचेगा ? रूपा का हृदय धड़कने लगा। प्राप्ति के आनन्द के बदले यह चिन्ता हुई कि कहीं वह उनको खो न दे। आज वह एक को प्राप्त करेगी, पर दूसरे को सदैव के लिए इस रूप में खो बैठेगी। पर क्या पत्नी बनकर ही अपना प्रेम दिखाया जा सकता है ! बहन का प्रेम क्या कम है ? मेरे भाई होता तो मैं उसे कितना प्रेम करती ! थका हुआ आता, मैं उसके सिर में अपनी उँग-लियाँ नचाती-नचाती उसे सुला देती। हाँ, हाँ, आज मुझे शान्ति मिली—मैंने छुटकारा पाया—आज मैं दोनो को अपनाऊँगी। सोमा और देवा समुद्र के विस्तीर्ण पट पर दो बिन्दुओं जैसे दिखाई देते थे।

अब तो बिन्दु भी नहीं-से दिखाई देते हैं। कौन प्रथम पहुँचेगा, कहना कठिन था। देवा ने सोमा की ओर देखकर कहा—सोमा ! झँझरी आज उन्मत्त सी हो उठी है। इतने भीषण भँवर तो कभी न देखे थे, रे !'

'हाँ ! आज ऐसा ही लगता है। पर इसमें शक क्या ? आज आखिर रूपा जो वहाँ बैठी हमारी ओर टकटकी लगाये देख रही है !'

हाँ, ठीक है। पर आज ये भँवरें हमें इतने वेग से क्यों खींच रही हैं ?'

'देख, बातें मत कर। पीछे रह जायगा। देवा ! लगा हाथ ! देख झाँझरी दिखाई देती है।'—एक तरंग पर चढ़ते हुए उँगली से निर्देश करते हुए सोमा ने कहा। उसने हाथ चलाना शुरू किया। देवा को लगने लगा, आज प्रवाह ठीक नहीं है। आज मोजें और आसपास की भँवरें उन्हें क्यों परास्त-सी कर रही हैं ? इस प्रकार पागलों की भाँति तैरने में जोखिम है। देवा इन विचारों में था कि सोमा लगभग दस हाथ आगे बढ़ गया। उससे आगे निकलने के लिए देवा ने हाथ मारना शुरू किया। सोमा आगे बढ़ा चला जा रहा था। देवा उसे पकड़नेवाला ही था कि वह झाँझरी के प्रचंड भँवर में फँस गया—बहुत ज़ोर से। सोमा ने विरुद्ध दिशा में हाथ-पैर पटकना शुरू किया, और गर्गल ध्वनि करती झाँझरी ने उसे नीचे दबाकर फिर ऊपर फेंक दिया। देवा घबरा गया। रूपा को तो वह खो बैठा, पर झाँझरी उसके सखा को निगलकर स्वाहा कर देना चाहती है, यह बात वह कैसे सह सकता है ? वह चिल्लाया।

'सोमा रे ! रूपा तेरी ! तेरी ! तू इधर देख, इधर आ, नहीं तो झाँझरी तुझे निगल जायगी, स्वाहा कर डालेगी !'

किन्तु जवाब देने का भी होश सोमा में था ! वह तो झँझरी के भँवर में घूम रहा था। देवा त्वरित गति से सोमा के पास पहुँचा। सोमा डूब ही रहा था कि देवा ने उसे अपने बाँये हाथ पर उठा लिया।

झाँझरी को अपना शरीर समर्पण करके, उस पर चक्राकर गति से घूमते हुए उसने साँस लेना शुरू किया। सोमा की मूर्च्छा दूर हुई। वह देवा से भेंट पड़ा।

'देवा ! रूपा तेरी !'

'ऐसा भी हो सकता है ? अपने जीवन को जोखिम में डालकर तू यहाँ आया है। तू आया पहले। रूपा तेरी !'

'न ! अगर तू मेरी मदद को न दौड़ा होता तो मैं डूब ही जाता न ? यह तो मेरी दूसरी ज़िन्दगी है। मैं रूपा को तुझे सौंपता हूँ।'

'चल, चल ! ऐसी पागलों-सी बातें न कर। रूपा राह देख रही होगी।'

यों कहकर देवा ने झँझरी में से निकलने के लिए हाथ मारने शुरू किये। कुछ ही देर में दोनो किनारे पर आ लगे। रूपा के मुख पर उत्सुकता की रेखाएँ खिंची थीं। दोनो मित्र एक-दूसरे के कन्धे पर हाथ रखे रूपा के पास आये।

'कौन है मेरा भाई, और कौन पति ?'—रूपा ने हँसते-हँसते पूछा।

दोनो एक दूसरे की ओर इशारा करते हुए कह उठे—

'यह !'

रूपा हँसने लगी— वाह भई वाह ! पर इसके पहले कि वह कुछ कहे देवा बोल उठा—

रूपा ! तेरी शर्त क्या थी ? जो झाँझरी पर पहले पहुँचे, वह तेरा पति न ? सोमा पहले पहुँचा, इसलिए वह तेरा पति।

'नहीं रूपा ! देवा ने सारी बात नहीं कही। मैं प्रथम पहुँचा, यह बात सच है, किन्तु मैं डूब गया। देवा ने मुझे निकाला, डूबने से बचाया। इसलिए जीता तो देवा ही न ?'

रूपा निर्णय न कर सकी। जिस वस्तु को टालना चाहती थी, फिर

वही उस पर सवार हो गई। उसने पास पड़ा एक कोलू का ठीकरा उठाया और बोली—बोलो, गीला कि सूखा ?

'बोल सोमा ! गीला कि सूखा !'—देवा ने पूछा—तेरा गीला तो मेरा सूखा !

सोमा बोला—अच्छा मेरा गीला सही। रूपा ! उछाल तो ठीकरा !

रूपा ने ठीकरा खूब ऊँचे फेंका। नीचे गिरते ही तीनो उधर दौड़े। रूपा देवा के गाल पर धीमी चपत लगाती हुई बोली—भइया ! तैंने तो अच्छा पति मेरे लिए ढूँढ़ निकाला रे। चल, हम तीनो झोंझरी को धन्यवाद देने चलें—भाई, बहन और जीजाजी !

दोनो मित्रों के हृदय रूपा की सरस बातों से हलके हुए। उसके उल्लसित मुख को देखकर दोनो आनन्दित हुए। सोमा के मन में विचार उठा, दोनो बार भाग्य मेरी ओर ही आता दिखाई दिया है। मुझे दैव की बात को स्वीकारना होगा। और देवा के मन ने भी ऐसी ही दलीलों से अपने आपको समझाया।

तीनो नाव में बैठे। रूपा देवा के पास बैठी और बोली—

हम भाई-बहन साथ हों तब साथ बैठने का हक़ तेरा नहीं। ले ! हाँक तो !—कहते हुए उसने इसकी ओर पतवार फेंका।

सोमा हँस दिया।

'वाह भई वाह ! अभी तो शादी भी नहीं हुई, और तू रोब जमाने लगी ! हाँ, हाँ, तेरा भाई पहले और फिर मैं।'

'पति...हाँ पति तो...पर भाई तो भाई ही है—' रूपा ने आँखें नचाते हुए कहा—देख तो उस झोंझरी में मेरी माता दिखाई देती है। आज वह कितनी प्रसन्न है ? हमें देखकर वह कितनी प्रफुल्लित दिखाई देती है !

देवा की खिन्नता दूर हो गई। रूपा का कोमल हाथ उसके हाथ में था। उस सुन्दर कोमल हस्त पर अपनी उँगलियों को नचाता हुआ

वह बोला—रूपा ! तेरा पहला बालक मेरा होगा, हाँ !

'और भइया ! तेरे सब बच्चे मेरे होंगे, हाँ !'—रूपा बोली। उसके नेत्रों से देवा के लिए सहानुभूति टपक रही थी।

'पर मैं शादी करूँ तब न ! तुझ-जैसी बहिन मिली, अब शादी क्यों करूँ ? बहिन के आगे पत्नी का प्रेम किस गिनती में है ?'

'नहीं भैया ! मुझे तो भाभी चाहिये। तुम दोनो सफर पर जाना, और हम दोनो ननद-भौजाई तुम्हारी बाट जोहती समुद्रदेव की आरती उतारा करेंगी।'

रूपा के सामने वह क्या कहे ? उसने बात बदल दी। बोला—

रूपा री ! तू सचमुच बड़ी विचित्र है। झाँझरी में जहाँ कि बड़ी-बड़ी नावें भी टूटकर समुद्र के पेट में समा गई हैं, वहीं पर तूने हमें भेजा ! और तीनों झाँझरी की ओर कौतूहल-पूर्ण दृष्टि से देखने लगे।

❀ ❀ ❀

रूपा और सोमा की शादी हो गई। देवा ने प्रसन्नवदन रहने का अथाह प्रयास किया; किन्तु अन्तर में न जाने कैसा विषाद का प्रचंड तूफ़ान उठ रहा था। उसने मानो कोई अमूल्य वस्तु खो दी है, उसे अब वह नहीं पा सकता। विषाद पर विजय प्राप्त करने की कोशिश भरसक की, पर...मनुष्य-हृदय ! रात को बड़ी देर तक उसे नींद न आई। रूपा ! रूपा ही उसे चारों ओर दिखाई दी। स्वप्न-माला बँध गई। सोमा और वह स्वयं दोनो तैरते झाँझरी की ओर चले जा रहे हैं, झाँझरी में से स्वर्गीय सङ्गीत की लहरियाँ उठ-उठकर उन्हें पागल-सा बना रही हैं। आकाश के—नीलाकाश के—सूर्य के डर से छिपे हुए असंख्य तारागण भी मानो वह स्वर्गीय संगीत सुनने के लिए उतावले हो, तेज के उस आवरण को भेदकर अपने मुँह निकाल रहे हैं। सोमा बोला—

देवा ! ऐसा तो कभी नहीं देखा। कौन गाता होगा रे ?

'मुझे भी नहीं सूझता, कौन गाता होगा !'

'तू माने या न माने, पर मुझे तो विश्वास है, कोई समुद्र परी इस झाँझरी में आकर अपना अपूर्व संगीत सुना रही है। किसी मानवी का यह स्वर नहीं।'

इसी समय झाँझरी में से किसी का मधुर स्वर सुनाई दिया।

'देवा ! इधर तो देख !'

देवा चौंका। लहर पर चढ़कर उसने झाँझरी की ओर दृष्टि फेंकी। क्या देखा उसने ! झाँझरी के तरंगों पर झूलती, हिलोरें लेती रूपा उसकी ओर इशारा कर रही है, उसे बुला रही है। उसकी अलकराशि उसके स्कन्ध-प्रदेश पर बिखरी हुई पड़ी है और कभी जल-तरंगों से खेलती है, तो कभी उसके कपोलों को चूमती है। उसके कानों पर दो मछलियाँ लटक रही हैं, मानो दो नीलम झूल रहे हैं। ऐसी सुन्दर मछलियाँ तो उसने कहीं, कभी नहीं देखीं ! कैसी छोटी-छोटी— कितनी सुन्दर ! रूपा के मुख पर अलौकिक तेज टपक रहा है। फिर से झाँझरी में से मीठे शब्द निकले—

देवा ! तू मेरा ही है—मेरा, हाँ !

पागलों की नाई देवा आगे बढ़ा। बढ़ता ही गया। रूपा के पास आ गया। यह मानवी है कि देव-कन्या ! इतना रूप ! इतना तेज ! और इतने स्नेह-भरे नैन ! इसी समय देवा ने सुना, उसे कोई बुला रहा है–हाँ, किनारे की ओर से। कौन ? सोमा ! सोमा वह चिल्ला रहा था—

देवा ! देवा ! मैं डूबता हूँ !

देवा घबरा गया। उसने मुड़कर देखा। सोमा अन्तिम श्वासें ले रहा है। वह दौड़ा। फिर से रूपा की आवाज़ आई—

देवा ! तू मेरा ही है। हाँ, मैं तेरी बाट जोहूँगी। जल्दी ही वापिस आना, हँ !'

पर देवा झाँझरी की ओर देखे बिना न रह सका। पर रूपा कहाँ ?

झाँझरी पागलों की नाईं आवाज़ कर रही थी—एक बड़ी-सी मछली इन तरंगों पर उठी और फिर जल में समा गई। अधिक सोचे—सोच सके—इससे पहले तो—

'कितना सोता है भइया! नींद में भी इतना हँसता था, और फिर रोने क्यों लगा?'—रूपा के शब्द थे, और उसके हाथ थे देवा के बालों में। सोमा पास ही बैठा हुआ था।

'देख! इस प्रकार रोवेगा तो काम न चलेगा। चल, देख राबड़ी ठंढी हो जायगी। आज तो तुझे—तू कहता था न, वैसी ही—डेढ़ मन की मछली लानी होगी। देर मत कर, भरती का समय है। चल तो उठ।'

देवा उठा; पर सारे दिन उसे उस स्वप्न की याद आती रही। उस स्वप्न की रेखा वह स्मृति-पट से मिटा न सका।

❀ ❀ ❀

रूपा की पुत्री! कैसी सुन्दर! देवा की गोद में रखकर वह बोली—ले भइया! यह तेरी। क्या नाम रखेगा?

देवा ने उसका नाम रखा मीठी। मीठी एक वर्ष की होते-होते तो देवा से इतनी हिल-मिल गई कि रूपा के पास वह शायद ही जाती। जब भूख लगती, तब ही रूपा उसे याद आती। देवा के जीवन में, स्वप्नों में, मीठी के सिवा अब और कुछ न था। मीठी के आगमन के बाद रूपा कुछ सतर्क हुई। पहले की भाँति अब वह झाँझरी के साथ बार-बार खेल न करती। यदि कभी बाहर जाने का अवसर मिलता भी तो वह समझती कि देर से पहुँचेगी, तो देवा उससे पूरा पूरा हिसाब लेगा। पर कभी-कभी तो वह अशान्त हो उठती। उसे प्रतीत होता, मानो अपने हाथ ऊँचे उठाकर झाँझरी उसे बुला रही है, मानो अपनी प्रिय झाँझरी को भुलाकर उसने महान् अपराध किया है।

उस दिन मदमाती चाँदनी खिली थी। अपनी झाँझरी से दूर |

समुद्र के वक्षस्थल पर लेटी हुई चाँदनी के श्वेत पट को देखकर वह पागल-सी हो उठी। ऐसी सुन्दर चाँदनी में वह झोंपड़ी में बैठी है! उसे तो वहाँ जाना चाहिये, जहाँ पर लहरा रही वह मदमाती चाँदनी, तूफ़ान मचा रही वे प्रचण्ड मौजें हैं। आज वह यहाँ बैठी है, शर्म के मारे उसका सिर झुक गया। धुले हुए श्वेत अम्बर-सम निर्मल शरदाकाश में हंस की भाँति जब चन्द्र मन्द गति से चल रहा है, रूपमय नीला समुद्र जब गर्जना कर रहा है, क्या वह इस प्रकार बैठी रह सकती है? क्या वह सचमुच पहले की रूपा है? सोमा की थाली में रोटी डालते हुए रूपा ने कहा—

सोमा! झाँझरी बुला रही है।

'आज नहीं, रूपा! इतना थक गया हूँ कि बस पूछो मत। अगर इच्छा ही है तो कल सुबह जल्दी उठकर चल देंगे।'

'चल! तू तो ऐसा ही रहा। समुद्र कैसा नाच रहा है!'

सोमा सागर की ओर देखता ही रहा। सच तो है, ऐसी सुन्दर रात्रि में तो सागर के वक्षस्थल पर हिलोरें लेना ही चाहिये। उसने सोचा, रूपा समझेगी वह कितना अरसिक है। इसी समय देवा आया। जाल को झोंपड़ी के एक कोने में डालकर वह मीठी के झूले की ओर मुड़ा। मीठी शान्त निद्रा में लेटी हुई थी। वात्सल्यभरी माता जिस प्रकार अपने बच्चे को सस्नेह देखती है, उसी प्रकार झूले पर झुककर वह देखने लगा। रूपा बोली—

भइया, देर कैसे हुई?

'मीठी के लिए सीपियाँ इकट्ठी कर रहा था।'

'तू तो पगला ही रहा। रोटियाँ ठंढी पड़ गईं, इसका भी कुछ ख़याल है!'

उसने दोनो को भोजन कराया और देवा से कहा—

'चल, झाँझरी पर चलें।

देवा ने इनकार किया—मुझे तो सीपियों का हार तैयार करना है।

'अब रहने भी दे देवा! तू तो बिलकुल लड़कियों की तरह हो गया है।'—रूपा ने कहा। शायद इस व्यंग से देवा आने को तैयार हो जाय।

'तू जो चाहे कह सकती है, पर मैं नहीं आनेवाला। और ऐसी रात में तो पति-पत्नी ही अच्छे। चलो, तुम दोनों को पहुँचा आऊँ। पर देर मत करना, मीठी के जागने के पहले आ जाना।

रूपा ने बहुत कहा, पर देवा चलने पर राज़ी न हुआ।

सोमा और रूपा ने डोंगी हाँक दी। देवा खड़ा-खड़ा देखता रहा। उसके नयनों से अमृत बरस रहा था। खड़ा-खड़ा दूर चली जाती हुई उस नाव को वह देखता रहा। एकाएक उसके अन्तर से आवाज़ उठी—

देवा! बुरा किया! साथ क्यों न गया रे तू?

उसे याद आया, मीठी डेढ़ वर्ष की हुई है। देवा ने शीघ्र ही दूसरी नाव तैयार की, और झाँझरी की ओर उसे खेना शुरू किया। पर यह क्या? हृदय क्यों इतना धड़कता है? उसके नेत्रों के सामने अँधेरा-सा छाने लगा। रूपा कहाँ? अरे! डोंगी उलटी हुई थी और लहरों पर पछाड़ें खा रही थी। वह चिल्लाया—सोमा! रूपा!

अट्टहास करती झाँझरी ने मानो प्रत्युत्तर दिया—सोमा! रूपा!

देवा अधीर हो उठा। चारों ओर उसने तलाश की। सारी झाँझरी को उसने छान मारा। जीवन का जोखिम होने पर भी झाँझरी की एक-एक चादर को उसने ढूँढ़ा। पर उसकी रूपा, उसका सोमा कहाँ? उसका चित्त अशान्त और अव्यवस्थित हो गया। उसने सोचा कि वह भी इसी झाँझरी में सदैव के लिए कूद पड़े।

लेकिन उसे मीठी की याद आई। वह उठी होगी। अकेली भूख से छटपटाती वह रो रही होगी। झोंपड़ी में वह अकेली है। उसके हृदय से निराशा और असहायता की एक आह निकल गई। अपनी

नाव उसने किनारे की ओर हाँक दी।

शान्त और नीरव उस झोंपड़ी में उसकी मीठी चुपचाप अपनी झोली में सो रही थी। असहाय देवा उसकी ओर देखता रहा। एक वेदनाहत दृष्टि उसने दूर उस झाँझरी पर फेंकी और फिर जल्दी से मीठी को झोली समेत उठाकर अपनी छाती से लगा लिया और उसके कोमल गालों पर एक गाढ़ चुम्बन अंकित कर दिया। बाहर भग्न हृदय के टूटे हुए तारों की भाँति चन्द्र की चाँदनी बिखरी पड़ी थी और दूर झाँझरी अपने अगम्य घेरे का अनवरत गान गा रही थी।

चचेरे भाई

दिनकरलाल एक प्राचीन देसाई परिवार के वंशज थे। इन्होंने तो नहीं, मगर उनके पूर्वजों ने गुजरात की बादशाहत क़ायम कराने में बहुत आगे बढ़कर काम किया था। उस बादशाहत के कमज़ोर पड़ने पर गुजरात में मुग़लों को लाने और इनकी हुकूमत जमाने में उनके दूसरे पूर्वजों ने अपने प्राण न्योछावर किये थे। जब मुग़लों की साख भी डगमगाने लगी, तो पेशवा-गायकवाड़ को इन्हीं देसाइयों के किसी पूर्वज की सहायता लेनी पड़ी; और मराठों का सूर्यास्त होने पर देसा-

इयों ने कम्पनी बहादुर की भी मदद की। दिनकरलाल देसाई का यह दृढ़ विश्वास था कि देसाइयों की सहायता के बिना इनमें से एक भी राज्य क़ायम न हो सका होता। इसके प्रमाण में वे फारसी-मराठी की अनेक चिट्ठियों, सनदों, प्रमाण पत्रों, फ़रमानों और ख़रीतों के पुराने बण्डल सबको दिखाया करते थे। और इस खयाल से फिर शायद इतना काफ़ी न हो, वे अपने श्रोताओं को कोई १५ देसाइयों का दिलचस्प इतिहास सुनाया और सिखाया करते थे।

श्री दिनकरलाल बड़े विस्तार के साथ—सन्, सम्वत् और तारीख का हवाला देकर—अपने श्रोताओं को सारा इतिहास सुनाया करते। वह कहते—महम्मद बेगड़ा की भूखों मरती फौज के पास ऐन मौक़े पर, निहायत चतुराई के साथ नाज़ के बोरे किसने पहुँचाये? इन्द्रजीत देसाई ने। शिकार खेलते हुए जब बादशाह अक़बर जंगल में रास्ता भूल गये, तो उनके लिए जल-पान का निहायत सुन्दर प्रबन्ध किसने किया? पद्मनाभ देसाई ने। बारिश के दिनों में जब औरंगजेब का एक हाथी दलदल में फँस गया तो देहातियों का एक दल जुटकर पूरे के पूरे हाथी को दलदल से बाहर किसने निकाला? कुँवरजी देसाई ने। गोविन्दराव गायकवाड़ की पराजित सेना को प्रोत्साहित करके अँग्रेज़ बहादुरों के छक्के किसने छुड़ाये? मुरलीधर देसाई ने।

अभी तक आधुनिक ढंग से इस बात का कोई अन्वेषण नहीं हो पाया कि इतिहासकारों ने इनमें से किसी घटना का अपने इतिहास में कहीं उल्लेख भी किया है या नहीं। वह जो कुछ भी हो; इसमें कोई शक नहीं कि देसाईगिरी का अभिमान धरानेवाले श्री दिनकरलाल के पूर्वजों ने काफ़ी बड़ी ज़मीदारी पाई थी और देसाइयों के वैभव और प्रतिष्ठा की किसी समय बड़ी धूम थी।

धूम थी, इसलिए कहता हूँ कि दिनकरलाल के समय में यह वैभव और यह प्रतिष्ठा अतीत के अन्धकार में विलीन होने लगी थी।

उनका अपना एक मकान आलीशान था। घर में नौकर-चाकरों की कमी न थी। बैलगाड़ी थी, बग्घी थी, मगर उसका घोड़ा मर चुका था, और नया ख़रीदने की चर्चा थी। मेहमानों का ताँता बँधा रहता था। कलक्टर, असिस्टण्ट कलक्टर, तहसीलदार, रेलवे अधिकारी, सभी दिनकरलाल देसाई के मेहमान होते थे और उनकी दावतों में बर-ज़रूर हाज़िर रहते थे। दिनकरलाल आग्रह-अनुरोध की कला में प्रवीण थे। हर महीने दावतें झड़ती थीं और दावतों के ये अवसर देसाईगिरी की गौरव-वृद्धि के साथ स्वयं भी वृद्धिगत होते चलते थे।

दावतों में शरीक होनेवालों को देसाई की आर्थिक स्थिति का विचार करने की तनिक भी आवश्यकता न थी। लेकिन उनके साहूकारों को एकाएक इसका विचार करने की ज़रूरत मालूम हुई। अब तक तो अपनी ज़मीनें रेहन रख-रखकर देसाई मनमाना धन पाते रहे; लेकिन अब साहूकारों ने बहानों से काम लेना शुरू किया; और वे दिनकरलाल के रुक्कों को लौटाने लगे, उन्हें क़र्ज़ देने से आनाकानी करने लगे। उनकी साख पर तो पहले ही कोई उन्हें क़र्ज़ देता न था; अब ज़मीनें भी सब रेहन रखी जा चुकी थीं, इसलिए आसपास के सभी साहूकार चौकन्ने हो गये थे और हाथ खोलते नहीं थे।

देसाई का यह ख़याल था कि यह सब साहूकारों के ओछेपन का परिणाम है। साहूकार हमेशा ओछे ही होते हैं। मूलधन से तिगुनी-चौगुनी रक़म ब्याज में ले लेने के बाद भी उनका क़र्ज़ बना रहता है! साहूकारों का यह जादू तो शायद परमात्मा भी न जानता होगा। कैसी आश्चर्य की बात है कि जो लोग जीवन भर बँटाई, पगड़ी, दलाली, थैली-छुड़ाई आदि की शानदार धार्मिक क्रियाओं के बाद दुगुने-चौगुने ब्याज पर रक़म उधार देते हैं, वही अदालत में दावा तक करने की नीचता प्रकट करते हैं!

(२)

दिनकर देसाई साहूकारों के इस ओछेपन को, उनकी इस क्षुद्रता को, सह लेते थे ; लेकिन अपने चचेरे भाई विजयलाल देसाई की नीचता उनसे तनिक भी न सही जाती थी। कुछ वर्ष तो दोनो ने मिल-कर देसाईगिरी की ; लेकिन सूक्ष्मदृष्टि विजयलाल—विजु देसाई—अपने समवयस्क और सम-समान मालिक दिनकरलाल की उदारता से, जिसे फिजूलख़र्ची कहकर वह अपने मन की क्षुद्रता प्रकट करते थे, घबरा उठे ; और दीवानी अदालत तक जाकर अलगौझा करा लिया। फिर अपने हिस्से की सम्पत्ति लेकर वह स्वतन्त्र रूप से अपना कारोबार चलाने लगे।

दिनकर देसाई को इससे ज़रा भी प्रसन्नता न हुई। जो परिवार कई पुश्तों से एक रहकर अपने पूर्वजों की सम्पत्ति का उपभोग कर रहा था, उसका यों खंड खंड हो जाना उन्हें अच्छा न लगा। इस घटना से दोनो भाइयों के दिल में गहरी गाँठ पड़ गई। दोनो एक-दूसरे के दुश्मन बन गये। और यद्यपि अपने पराक्रमी पूर्वजों की तरह तलवार हाथ में लेकर परस्पर लड़ने की शूरता किसी में न थी, फिर भी गाली-गलौच तेरी-मेरी और तानों-तिरनों के प्रयोग द्वारा वे बार-बार अपनी वीरता का परिचय दिया करते थे।

दोनो के घर की दीवार एक ही थी। एक ही घर के दो हिस्से कर लिये गये थे ; इसलिए प्रकट युद्ध के अवसरों के अतिरिक्त भी वे टीका-टिप्पणी द्वारा एक-दूसरे पर छींटे उड़ाकर लड़ने का आनन्द उठा लिया करते थे।

'उसे देसाई कहता कौन है ? वह तो बनिया है, बनिया। ज़रा उसका दिल तो देखो !' कहते समय दिनकर देसाई अपनी आवाज़ को इतना बुलन्द करते कि दोनो घर के लोग भलीभाँति सुन लेते।

यह सोचकर कि ये छींटे मुझी पर उड़ाये जा रहे हैं, विजु देसाई

का चेहरा तमतमा उठता— वह आग-बबूला हो जाते। उन्हें याद आता कि यह दिनकर कलेक्टरों और कमिश्नरों को दावातें देता है, फूलों के हार पहनाता है, और झूले पर बैठकर मौज से अपने पुरखों के गीत गाया करता है। बस, दूसरी तरफ से वह भी गरज उठते—

शेखीखोर कहीं का! सारी देसाईगिरी डुबोने बैठा है!

दिनकर देसाई झूले पर से आधे उठ बैठते और चिल्लाकर पूछते—

तू किसे कह रहा है!

'तुझी को! तुझमें इतना समझने की अक्ल भी तो हो!'

'बड़ा अक्लवर है तू? धन के हण्डे गाड़कर जायगा न? साँप बनकर बैठेगा, साँप! कम्बख्त कहीं का।'

और वहीं एक छोटा-सा युद्ध छिड़ जाता।

इन युद्धों में योद्धा ये दो भाई ही होते थे। इनके घर के स्त्री-बच्चों पर इन युद्धों का कोई असर दिखाई नहीं देता था। जब दिनकर देसाई और विजय देसाई यों आपस में एक-दूसरे की पगड़ी उछालते और प्रहार करते, तब दोनो देसाई-पत्नियाँ या तो अचार-मुरब्बे की तैयारी में लगी मिलतीं, या गहनों-कपड़ों की चर्चा में। कभी विजय देसाई की पत्नी दिनकर देसाई की पुत्री के बाल सँवारती मिलतीं, और कभी दिनकर देसाई की पत्नी विजय देसाई के पुत्र को जिमाती होतीं। देसाइयों के युद्ध की विशेषता यह थी कि वह उन्हीं तक रहता था। कौन कह सकता है कि हमारा सूर्य दूसरे सूर्य के साथ खींचातानी न करता होगा? फिर भी हमारी पृथ्वी को उनकी खींचातानी से कोई सरोकार नहीं। उसे तो उनके झगड़े का आभास तक नहीं होता। ठीक यही दशा इन दो युद्ध प्रिय चचेरे भाइयों के परिवार की थी— वे इनके युद्धों से बिलकुल अछूते थे।

दावत के दिन विजय देसाई को न्यौते बिना दिनकर देसाई से रहा न जाता। लेकिन विजय देसाई कदाचित् ही उनमें शामिल होते।

ऐसे समय दिनकरलाल यह कहते सुने जाते ।

वह क्यों आये ? कौन मुँह लेकर आये ? कभी किसी को घर बुलाकर खिलाता भी है ?

और विजय देसाई कहते—

यह दिनकर कैसा बुद्धू है ! इसे कब अक्ल आयेगी ! मूर्ख खिलाते हैं और मक्कार खाते हैं !

लेकिन जिस दिन किसी नये अधिकारी को दावत दी जाती, और विजय देसाई को मजबूरन जाना पड़ता, तो दिनकर देसाई ख़ास तौर से उनका परिचय कराते । कहते —

साहब, ये मेरे भाई हैं । एक साथ पले हैं और एक ही पिता का अन्न खाते हैं ।

'अच्छा, ऐसी बात है !'—कहते हुए साहब मुसकराते और देसाइयों के जीवन में रस लेने का अभिनय-सा करते ।

'जी हुज़ूर । बड़े-बूढ़ों का पुण्य अभी तक साथ दे रहा है ।'—विजय देसाई को भी नम्र होकर कहना पड़ता ।

लेकिन दावत के ख़तम होते ही, दोनो भाई फिर उलझ पड़ते । दोनो को एक दूसरे से इतनी अरुचि हो गई थी, कि सिवा लड़ने के आपस में और किसी समय वे बोलते तक न थे ।

दिनकर देसाई अकेले अधिकारियों की ही ख़ातिर-तवाज़ा न करते थे, बल्कि अतिथि-सत्कार और दान-मान के हर काम में उनका नाम सबसे आगे रहता था ; फिर वह साधुओं की जमात को जिमाने का काम हो, सप्ताह भर रामायण महाभारत का पाठ करनेवाले शास्त्री को पगड़ी-दुपट्टा भेंट करने का काम हो ; किसी उस्ताद गवैये के इनाम-इकराम का सवाल हो, या रामलीला का प्रबन्ध करने की बात हो । वह कहीं पीछे न रहते थे । विजय देसाई इन सब कामों में कभी सहयोग न देते । और जब देना ही पड़ता, तो रुपया-आठ आना देकर

पिण्ड छुड़ा लेते।

कभी-कभी कुछ उत्साही चन्देवाले विजय देसाई की तारीफ़ का पुल बाँधकर उन्हें चढ़ाने की कोशिश करते—

विजय दादा, यह देखो, दिनकर भैया ने इतने दिये हैं; आप इससे कम कैसे दे सकते हैं?

विजय देसाई को यह तुलना तनिक भी न रुचती। वे टका-सा जवाब दे देते—

इसे तो भीख माँगनी है। मैं भिखारी नहीं बनना चाहता।

उधर दिनकर देसाई का क्षोभ एक देखने की चीज़ होती। वे उत्तेजित होकर चन्दा माँगनेवालों से कहते—

उससे तुम क्या पाओगे! अरे वह तो ऐसा मूँजी है कि सुबह मुँह देख लो, तो दिन भर अन्न के दर्शन न हों!

(२)

इधर कुछ दिन से रोज़ दिन के चार बजे दिनकर देसाई किसी भाट से देसाई वीरों की कीर्त्ति-कथा सुना करते थे। अन्त में एक दिन उन्होंने भाट को बिदाई में एक दुशाला भेंट किया। भाट ने तुरन्त ही दिनकर देसाई की तारीफ़ में एक कवित्त पढ़ा। आशुकवि की प्रतिभावाले उस देवी-पुत्र ने दिनकर देसाई को सूर्य कहा, चन्द्र कहा—चक्रवर्ती कहा, समुद्र से भी महान् और हिमालय से भी उच्च सिद्ध करके कुबेर को भी देसाई का क़र्ज़दार घोषित कर दिया। इधर भाट अपना पुरस्कार लेकर बिदा हुआ और उधर देसाई के एक पुराने साहूकार ने एक-दो सिपाहियों और मुहर्रिरों के साथ उनके घर में प्रवेश किया। साहूकार ज़ब्ती लेकर आया था। मुंसिफ को पाँच-सात बार हरी जुवार के होले की दावत देकर और उपयोग के लिए एक आलमारी उनके घर भेजकर दिनकर देसाई निश्चिन्त हो गये थे। उन्होंने कभी सोचा तक नहीं कि मुंसिफ़ इतनी जल्दी ज़ब्ती का हुक्म जारी कर

देगा। कई मामलों में ठीक-ठीक मेहनताना न मिलने से देसाईजी के वकील भी उस दिन डुबकी लगा गये।

देसाईजी बहुत बिगड़े। मानहानि के लिए मुक़दमा चलाने की धमकी देने लगे। गवर्नर साहब के नाम तार करने को तैयार हो गये। शाम से पहले साहूकार को उसकी रकम चुका देने का वादा किया। मगर साहूकार टस से मस न हुआ। वह तो जब्ती का इरादा करके ही आया था। देसाईजी की सभी युक्तियाँ बेकार हो गईं। बेचारे हताश हो गये।

इधर बेलिफ और मुहर्रिरों ने साहूकार द्वारा निर्दिष्ट वस्तुओं को जब्त करना शुरू किया।

विजय देसाई पास ही आँगन में झूले पर बैठे सारा दृश्य देख रहे थे। उनकी मुख-मुद्रा स्थिर और कठोर भाव धारण करती जा रही थी। इतने में उनकी पत्नी एकाएक बाहर आईं और बोलीं—भैया के घर जब्ती आई है!

'उसकी तक़दीर! मैं क्या करूँ?'

'क्या कहते हो? यह तो अच्छा नहीं मालूम होता। कुछ करना चाहिये।'

'करें उसके यार-दोस्त। कलक्टरों और कमिश्नरों को बहुत खिलाया है। वे सब मर थोड़े ही गये हैं। क्यों नहीं मदद करते?'

'कुछ दे दिलाकर अभी तो इस सेठ को बिदा करो!'

'चार-चार, पाँच-पाँच बार मैं बीच में पड़ा, जमानतें दीं; लेकिन यह है कि अपनी आदत से बाज़ नहीं आता। अब सिवा मकान बेच डालने के और कोई रास्ता नहीं। अगर यही हालत रही, तो उसे ख़ुद भी बिकना पड़ेगा।'

यों कहते हुए विजय देसाई झूले पर से उतर पड़े और ओसारे में टहलने लगे। जब्ती कारकून ने बाहर आकर विजय देसाई से

प्रार्थना की — देसाईजी, ज़रा पंचनामे में मदद कीजियेगा?

'जाओ जाओ, किसी दूसरे को बुलाओ। मुझे फुरसत नहीं है।— कहकर देसाई अन्दर चले गये। कुछ देर बाद कपड़े पहनकर वे फिर बाहर आये। ओसारे में उनकी पत्नी एक युवती को अपनी छाती से लगाये उसके आँसू पोंछ रही थीं। विजय देसाई ने जब यह दृश्य देखा तो वे बोले—क्यों? क्यों बेटा! तू क्यों रो रही है!

रोती हुई युवती ने आँचल से आँसू पोंछते हुए कहा—कुछ नहीं, चाचाजी।

यह युवती दिनकर देसाई की पुत्री पद्मा थी।

विजय देसाई ने आश्वासन-भरी वाणी में कहा—'तू नाहक घबराती है? देसाइयों का काम तो ऐसे ही चलता है। कभी जब्ती भी आ जाती है।

'लेकिन इनके दहेज के गहने भी जब्त हो रहे हैं।'— देसाई की पत्नी ने कहा।

पद्मा की आँखें फिर डबडबा आईं। दहेज में मिले हुए गहनों की ऐसी दुर्दशा होते देख उसकी छाती फटी जाती थी।

'बेटा, रोओ मत। किसकी मजाल है कि तेरे गहनों को हाथ लगाये?'—कहते हुए देसाई ने चाभियों का एक गुच्छा पत्नी की ओर फेंक दिया।

'उस छोटी पेटी में नोटों का एक बण्डल पड़ा है। जाकर उसे निकाल लाओ।'

'देसाण' दौड़ी गई और नोटों का एक बण्डल लेकर तुरन्त ही लौट आई। देसाई ने वह बण्डल पद्मा को दिया और आदेश-पूर्वक कहा—जाओ, बेटी, अपने बापू को यह दे आओ।

पद्मा नोट लेकर घर दौड़ी गई। लेकिन जितनी फुर्ती से वह गई थी, उतनी ही फुर्ती से लौट आई।

उसने दुःख-भरे स्वर में कहा—बापू लेने से इनकार करते हैं। उन्होंने नोट फेंक दिये।

विजय देसाई एकाएक गरज उठे—बड़ा लखपती है! वन-माली सेठ!

वनमाली सेठ ने खिड़की की राह देखा। विजय देसाई ने घुड़की भरी आवाज़ में कहा—उतर नीचे, बेशरम कहीं के। तेरी यह हिम्मत कि बग़ैर मुझसे पूछे घर में घुस गया?

सेठ ने कहा—देसाईजी, जब मैं आया, आप सामने ही बैठे थे।

'चल, सँभाल अपने पैसे और रास्ता नाप! ब्याज-ही-ब्याज में लोगों को बरबाद कर डाला। हरामखोर कहीं का!'

इसी वक्त दिनकरलाल देसाई लाल-पीले होते हुए नीचे आये और विजयलाल से उलझ पड़े—तू कौन होता है पैसे देनेवाला! मेरी इज़्ज़त लेने बैठा है?

'रहने दे, भाई रहने दे! घर में बैठ! तेरी इज़्ज़त कितनी है, सो मैं जानता हूँ।'

'तुझसे किसने कहा था कि तू पैसे दे? बला से मेरा घर नीलाम हो जाय! तेरा इसमें क्या नुकसान है?'

'तो तुझे दिये किसने हैं पैसे?'

'तो किसे दिये हैं?'

'अपनी बेटी को दिये हैं। तू उसके गहने जब्त होने दे, और मैं बैठा देखता रहूँ?'

'बेटी! पद्मा तेरी बेटी है?'

'हाँ, मेरी बेटी है। सात नहीं, सत्तासी बार मेरी है। अकेले तेरी ही वह बेटी नहीं है। वह देसाइयों की बेटी है। सातों पीढ़ी की बेटी है।'

'आख़िर तू अपनी भाईबन्दी जताकर ही रहा ! सबके सामने तू ने मेरा पानी उतार लिया !'—यों बड़बड़ाते हुए दिनकर देसाई अपने हिंडोले पर जा बैठे। चाँदी के पानदान से सुनहले वर्क़ से दो पान निकालकर उन्होंने दो बीड़े बाँधे और पन्ना के हाथ में एक बीड़ा देते हुए कहा—पन्ना, जा दे आ, अपने चचा को।

दोनो भाई इस तरह, प्रतिदिन बिना बोले बीड़ों का आदान-प्रदान करते रहते थे। वे कितने ही क्यों न लड़े-भिड़े हों, मगर लड़ाई-झगड़े के बावजूद भी, कोई दिन ऐसा न जाता था, जब दिनकर देसाई का बाँधा हुआ बीड़ा विजय देसाई ने न खाया हो।

तकिये का सहारा लेकर अपने पूर्वजों के पराक्रमों का सिंहावलोकन करते-करते आज दिनकरलाल के दिल में एक विचार फिर-फिर आता रहता था—

विजय कैसा ही क्यों न हो, आख़िर है तो वह देसाई-बच्चा न !

परिवर्तन

'ओह् हो, कौन धनंजय ! आज ही मुझे बिदा करने और यात्रा की सफलता चाहने आया है !'—धनंजय के परम मित्र गोपाल ने उसका हार्दिक स्वागत करते हुए कहा।

'क्या करता। कल ठीक इसी समय मेरा वेक्चर है ; इसलिए आज ही आना पड़ा। फिर, कल इतनी बेफ़िकरी से शायद हम मिल भी न सकते।'—धनंजय ने कहा।

पिछले कई वर्षों से धनंजय और गोपाल में गाढ़ी मित्रता रही है।

और समय के साथ वह इतनी दृढ़ होती चली है कि अब दोनो एक दूसरे को अपना भाई समझते हैं। इन दोनो मित्रों की मनोरचना में बहुत अन्तर था और शायद यही वजह थी कि इनकी मित्रता में किसी तरह की बाधा पड़ने का अवसर ही उपस्थित न होता था। गोपालराव व्यायाम प्रिय युवक था। टेनिस, क्रिकेट, तैराकी आदि सभी खेलों और कसरतों में वह निष्णात था। व्यवस्था या नियम का अभाव ही उसकी सबसे बड़ी व्यवस्था थी, नियम था। वह कल्पना-जगत् का प्राणी था। मनमौजी जीव था। कल की चिन्ता से आज चिन्तित रहना उसकी आदत में न था। वह तो आज के लिए जीता था—उसी में उसका समस्त रस था। व्यायाम-प्रिय पुरुषों में जैसा सौन्दर्य और आकर्षण होता है, सो उसमें भी था। कॉलेज-जीवन से लेकर अब तक की अपनी चालीस वर्ष की उम्र उसने एक रसिक भौंरे की तरह बिताई थी, और उसके इस स्वभाव में अब किसी परिवर्तन की सम्भावना न थी। इस बीच उसने ब्याह भी किया था! आठ-दस वर्ष का वैवाहिक जीवन भी वह बिता चुका है। पत्नी का देहान्त हो गया, सन्तान कोई थी नहीं। फिर से ब्याह करने की उसमें न रुचि थी, न कोई लाभ ही उसकी समझ में आता था। ग्रेजुएट होने के बाद वह एक व्यापारी फर्म में नौकर हो गया, और तब से अब तक वहीं चिपका हुआ है। दुनिया के सातवें कोने में भी कहीं उसे जाना पड़ता, तो वह खुशी-खुशी जाता, मन में ज़रा भी मैल न लाता। क्योंकि वह समझता था—सबै भूमि गोपाल की, तामें अटक कहा? और कल ही वह पाँच-छः साल के लिए यूरोप जा रहा था।

धनंजय की उम्र भी चालीस के क़रीब ही थी, लेकिन उसके और गोपाल के स्वभाव में ज़मीन आस्मान का अन्तर था। बक़ौल गोपाल के धनंजय पाँच वर्ष की उम्र तक तो बालक रहा; और फिर एकदम प्रौढ़ बन गया। उसे न खेल-कूद का शौक़ था, न क़सरत-क़वायद

का। अव्यवस्था, अशान्ति और कोलाहल से वह दूर भागता था। व्यवस्था ही उसके जीवन की विशेषता थी। गोपाल अपनी कल्पना का चेरा था, धनंजय अपनी आदतों का गुलाम। बी० ए० पास करके पहले वह कॉलेज में लेक्चरर हुआ और धीमे-धीमे प्रोफेसर बन गया। उसने २०-२२ वर्ष की उम्र में ब्याह किया था, लेकिन पत्नी एक बालिका को छोड़कर चल बसी। भाई-भौजाई के कोई सन्तान न थी; धनंजय ने अपनी कला को उनके हाथों सौंप दिया। वह लड़की इस समय बी० ए० में पढ़ती थी, लेकिन लोग उसे धनंजय की पुत्री नहीं, भतीजी ही समझते थे। शान्ति और व्यवस्था के उपासक धनंजय ने फिर ब्याह न किया। चित्र-कला उसके विनोद की प्रिय वस्तु थी, और स्वाध्यायशीलता उसकी प्रेमिका थी। इन दोनो के प्रेम में वह मानवी प्रेम को भूल जाता था। उसके शारीरिक सौन्दर्य और उसकी विद्वत्ता के कारण अनेक स्त्रियाँ उसकी ओर आकर्षित होती थीं। वह उनके साथ घूमता, फिरता, हँसता-बोलता; मगर फिर भी एक अजीब-सी तटस्थता बनाये रहता। चित्रकार होने के कारण वह सौन्दर्य का परीक्षक था। सुन्दर स्त्रियों के साथ बात-चीत करके वह सुखी होता था; शान्ति और स्वास्थ्य का अनुभव करता था।

बात-चीत की कला में भी वह निपुण था। किसी स्त्री की सुन्दर-सी साड़ी पहनने की ढब पर, किसी के घेरदार लहँगे की मस्ती पर, किसी की कसी-गँसी, फट्-फट् होनेवाली चोली पर, किसी तरुणी के सघन बालों की उच्छृङ्खल लट पर, किसी ललना की लालित्य-पूर्ण भौंहों पर किसी युवती की मद-भरी आँखों पर, किसी मोहिनी के मधु-वर्षी ओठों पर; किसी मीनाक्षी के मद-भरे स्तन युगलों पर किसी गज-गामिनी के नेत्ररंजक नितम्बों पर, किसी गुलबदन के पैरों की पराग बिखेरती एड़ियों पर, यों सौन्दर्य की अनेकानेक अद्वितीय कृतियों पर घण्टों वार्तालाप करके धनंजय अपने श्रोताओं को मुग्ध करता था

और स्वयं भी उससे थोड़ा-बहुत आनन्दानुभव कर लेता था। फिर भी, पैनी दृष्टिवाले लोगों को धनंजय में स्त्रियों के प्रति दो परस्पर-विरोधी भाव प्रवाहित से दिखते थे। कभी वह स्त्रियों को देवी समझ उनकी पूजा करता प्रतीत होता, और कभी उन्हें दानवी कहकर उनकी भर्त्सना करता पाया जाता। इन दो परस्पर विरोधी तरंगों के कारण धनंजय के दिल में स्त्रियों के प्रति वासनापूर्ण आसक्ति की अपेक्षा उपेक्षा ही विशेष पाई जाती थी। विभिन्न प्रकृति के स्त्री और पुरुष उसकी इस उपेक्षा का विभिन्न अर्थ करते थे; किन्तु प्रकृति, प्रबन्ध और आदत के उपासक धनंजय ने कभी इन बातों की पर्वा न की।

दोनो मित्रों ने घण्टों घुल-घुलकर बातें कीं। धनंजय ने गोपाल को कुछ पुस्तकों के नाम दिये, कि वह इंग्लैण्ड से खरीदकर भेजे। उसे कुछ चित्रों की प्रतिकृति भी मँगानी थी; उसने गोपाल को उनकी तफसील भी समझाई। आखिर बात-चीत खतम हुई। धनंजय जाने के लिए उठा।

उसने हँसते-हँसते कहा—ऐसे समय हर कोई तुमसे कहेगा, अपने स्वास्थ्य को सँभाले रहना। मैं थोड़ा बढ़कर यह कहूँगा कि शरीर के साथ मन को भी सँभाले रहना।

गोपाल ठठाकर हँस पड़ा और बोला—क्यों न हो? अब तक मैंने अपने शरीर और मन को नहीं सँभाला; सो अब सँभालने के लिए! भई, हम तो मनमौजी ठहरे; अपना तो सिद्धान्त ही है कि शरीर जो कहे, सो उसे करने देना और मन जिधर जाने को कहे, उधर उसे जाने देना। लेकिन प्रोफेसर साहब, मेरी गैरहाज़िरी में तनिक आप भी अपने मन और तन को सँभाले रहियेगा!

'हूँ...ऊँ! चालीस तो कट गये। अब तक तो इन दोनो ने मुझे दग़ा नहीं दिया।'—धनंजय ने तनिक तिरस्कार-युक्त मुसकान के साथ कहा। और फिर बोला—जैसे तुम मनमौजी हो, मन के इशारे पर

चलनेवाले हो ; वैसे ही मैं आदत और व्यवस्था का पुजारी हूँ ! ऊँ हूँ, मेरी तुम ज़रा भी चिन्ता न करना।

'चिन्ता तो मैं किसी की करता नहीं ; लेकिन तेरे समान विचारक की यह गर्वोक्ति मुझे अच्छी नहीं लगती।'—दीर्घ वियोग की कल्पना से कहो, अथवा अन्य किसी कारण से कहो, गोपाल अपने स्वभाव के विरुद्ध गम्भीर होकर बोला। उसने फिर कहा—भैया, जब तक कामदेव के लक्ष्य नहीं बने हो, तभी तक यह सारी शेख़ी है ! जिस घड़ी किसी कोमलांगी के कातिल कटाक्षों की सहायता लेकर रतिनाथ शर-सन्धान करेगा, उसी क्षण जीवन समस्त की आदतें और व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो रहेंगी ; जीवन सिर से पैर तक बदल जायेगा ! क्या तू नहीं जानता कि काम अजेय है ?

धनंजय ने गम्भीर होकर कहा—मैं जानता हूँ, कामदेव अजेय माना जाता है। लेकिन मैं यह भी मानता हूँ कि वह तेरी तरह मन-मौजी न होगा। उसे व्यवहार-कुशल भी तो होना चाहिये ! अतः जहाँ विजय सुलभ दीखती होगी, वहीं वह अपना बाण छोड़ता होगा ! मुझे सम्भव नहीं मालूम होता, कि मुझ तक उसकी दृष्टि अब पहुँच सकती है।

फिर कुछ देर तक चर्चा होती रही। अन्त में दोनो मित्र एक-दूसरे से पृथक् हुए।

धनंजय अपने कमरे में अकेला बैठा था। अपने भाई के मकान के समीप ही एक लम्बे-चौड़े अहाते में उसका मकान था। जिस खण्ड में वह बैठा हुआ था, उसे ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की एक दीवार इस तरह ढके हुए थी कि सड़क पर चलनेवाला कोई आदमी उस जगह मकान की कल्पना भी नहीं कर सकता था। पास ही नये ढंग का बाथ-रूम था, पीछे एक रसोई-घर, एक अतिथि-गृह, उसकी बगल में सामान रखने का एक कमरा, और सामने एक और बड़ी-सी गैलरी थी। मेहमानों

में गोपाल-जैसे कुछ मित्र कभी-कभी उसके यहाँ आ जाते। कभी पुत्री रूपा पिता धनंजय के इस निवृत्ति-निवास-से स्थान में चढ़ आती। उसके साथ आधुनिक युवक-युवतियों की एक सेना भी होती। यौवन की इस चढ़ाई को धनंजय गर्व, खेद, आश्चर्य और कुतूहल आदि के मिश्रित भावों से देखा करता और अन्त में इन आक्रमणकारियों द्वारा मचाई गई अव्यवस्था को दूर करके जब तक व्यवस्था की स्थापना न कर लेता, उसे चैन न पड़ती।

इस सामनेवाले खंड में ही धनंजय का सर्वस्व रहता था। कमरे में एक ओर, ऊपर से बन्द होनेवाली मेज थी; उसी की बगल में एक कुर्सी और सामने दो-तीन कुर्सियाँ पड़ी थीं। एक कोने में पीतल का पलंग था। पलंग के पास कोई पचास की क़ीमत वाली एक आराम-कुर्सी थी। एक तरफ की सारी दीवार को ढँककर कुछ आलमारियाँ खड़ी थीं; वही धनंजय का अपना पुस्तकालय था। एक दूसरे कोने में और उसके पास की दीवार पर धनंजय की चित्रशाला का सामान और चित्र टँगे थे। दो-तीन चित्र-फलक, रंग की पेटियाँ, ब्रश, प्लेट, नये कैनवास, कोरे काग़ज़, आदि सब यथा स्थान रखे हुए थे। एक छोटी मेज पर नमूनों (मॉडेलों) की चित्र-पोथियाँ रखी हुई थीं। इनके अतिरिक्त रोडीन की कृतियों की दो-एक प्रतिकृतियाँ और कुछ सुप्रसिद्ध तैल-चित्रों की प्रतिकृतियाँ भी सुशोभित हो रही थीं।

धनंजय, विचार में डूबा, एक अर्द्ध-चित्रित चित्र के सामने खड़ा था। उसने घड़ी में देखा - ढाई बजे थे। नौकर को बुलाया। चाय तैयार करने को कहा। कुछ देर सोचता रहा। फिर गुनगुनाया—नहीं, आज मन इतना स्वस्थ नहीं है कि चित्र पर कुछ काम हो। हूँ...ऊँ...ऊँ! वह फिर विचार में डूब गया। उसने सिगरेट मुँह में ली, सुलगाई, और गैलरी में जाकर एक आराम-कुर्सी पर पड़ रहा।

सिगरेट के धुएँ को देखता हुआ, आराम-कुर्सी पर पड़े-पड़े वह

कल्पना-जगत् की सैर करने लगा। गोपाल को यूरोप गये क़रीब पाँच साल बीत चुके थे। जब-तब उसकी चिट्ठियाँ आती रहती थीं। इनमें प्रायः यूरोप के रसमय जीवन का वर्णन रहता था। धनंजय ने फिर घड़ी की ओर देखा। अभी पूरे दस मिनट भी नहीं बीते थे। यह देख-कर उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा और फिर उसका चेहरा एक विकट मुस्कान से उद्दीप्त हो उठा।

यह मन-ही-मन सोचने लगा—हाय, धनंजय! तेरी यह दशा? ये बयालीस-बयालीस वर्ष बीत गये, मगर अब तक कोई स्त्री तेरी शान्ति में, तेरी दिन-चर्या में बाधक न हुई। और स्त्रियाँ भी कैसी-कैसी! कोई महान् विदुषी, कोई संगीत-निपुणा, कोई चित्रलेखा-सी चित्रविद्, कोई संगमरमर की पुतली! हाँ, ये सब मेरी मित्र थीं, सखियाँ थीं। लेकिन मेरे हृदय में इनके लिए कितनी और कैसी जगह थी? वह शरारती और नटखट कुसुम! वह कोयल-सी कुहुकनेवाली सरयू! वह गहरी, मदभरी आँखोंवाली अलका! संगमरमर की पुत्तलिका-सी वह प्रीतिदा! लेकिन ऐसी तो मेरी अनेकानेक सखियाँ हैं। ये सब मेरी जीवन-वाटिका के आँगन में क्रीड़ा करनेवाली रही हैं। मेरे जीवनसागर के जल को इनमें से एक भी आलोडित न कर सकी। —सोचते-सोचते धनंजय रुक गया। और सहसा उसके चेहरे का रङ्ग बदल गया। उसके हाथ काँप उठे, उसकी आँखें मुँद गईं। कोई तीन साल पहले की एक घटना उसे याद हो आई।

पूनो की चाँदनी छिटकी हुई थी। उसकी शोभा बढ़ाते हुए जापानी फ़ानूस मस्ती के साथ इधर-उधर झूम रहे थे। एक सुविशाल, और सुरम्य अहाते में 'गरबे' का समा बँध रहा था और उस वर्तुल के आसपास कुर्सियों पर, जाज़मों पर यहाँ-वहाँ मानव समुदाय डटा हुआ था। उन सबसे कुछ दूर एक कुर्सी पर धनंजय बैठा था। पास की दूसरी कुर्सी पर उसका एक मित्र—इसी के कॉलेज का एक प्रोफे-

सर बैठा हुआ था। बीच-बीच में दो-दो, तीन-तीन युवतियाँ और कभी-कभी कोई युवक धनंजय के साथ अपने गाढ़ परिचय का प्रदर्शन-सा करने के हेतु से उसके पास आते, और कुछ बातें करके लौट जाते। कुछ देर ठहरकर उनका वह प्रोफेसर मित्र भी अपने घर चला गया। उठकर अन्यत्र बैठने की आलस के कारण धनंजय, वहीं, उस अर्द्ध अन्धकार में अकेला बैठा रहा। वह कभी-कभी सिर उठाकर नाचनेवाली युवतियों को क्षणेक देख लेता था। अपनी पुत्री रूपा के—यौवन के आँगन में खड़ी हुई सौन्दर्य-मूर्ति रूपा के—अभिनय को वह किंचित् मात्र अभिमान और सन्तोष से देखता और उस सुन्दर चित्र से उत्पन्न विचार-राशि में डूबकर उधर से दृष्टि हटा लेता।

गरबा समाप्त हुआ। दूसरे गरबे का आरम्भ हो रहा था; इतने में न ज़्यादा ठिंगनी, न ज़्यादा ऊँची, एक प्रौढ़ा गरबे के वर्तुल में शामिल हुई। गरबा शुरू हुआ। रूपा थोड़ा विश्राम करने के हेतु से गरबा छोड़कर बाहर आ गई थी। गरबे में नाचनेवाली अन्य युवतियों के अभिनय में, उनके कण्ठ-स्वर में, कोई विशेष आकर्षक तत्त्व प्रतीत न होने से धनंजय ने अपनी दृष्टि समेट ली थी। इतने में हाल ही आई हुई उस स्त्री पर उसकी नज़र ठहरी; और एकाएक उसके शरीर में एक बिजली-सी झनझना उठी। उसके अन्दर का अन्यमनस्क और उदासीन कलाकार फिर सतेज हो उठा। वर्तुल में घूमनेवाली वह स्त्री बीच बीच में उसे साफ़ दिखाई पड़ती, और फिर धीमे-धीमे अस्पष्ट-सी होकर अदृश्य हो जाती। उम्र में अधिक होने पर भी वह अन्य युवतियों को हतप्रभ-सी कर रही थी; अपने छलकते हुए सौन्दर्य से नहीं, किन्तु एक विशिष्ट लावण्य से, वेदना-पूर्ण अभिनय से, दुःखपूर्ण आँखों की जलती हुई चिनगारियों से। इस मूर्ति को देखकर धनंजय ने जिस विद्युत से आघात का अनुभव किया था, उससे आश्चर्य-चकित होकर वह उस घूमती हुई आकृति का कुछ सूक्ष्म विश्लेषण करने लगा।

दीपकों के उस प्रकाश में उसकी देह का यथार्थ वर्ण पहचानना तो ज़रा कठिन था ; फिर भी उसने देख लिया कि उस वर्ण को गौर वर्ण नहीं कहा जा सकता। चित्रकार और शिल्पी की दृष्टि से जितनी ऊँचाई आवश्यक है, वह उतनी ऊंची भी न थी। और न संस्कृत कवियों ने जिन्हें बार-बार कुम्भ-स्थल की उपमा दी है, वैसे विकसित और पुष्ट स्तन-युगलों से उसकी छाती ही सुशोभित थी।

तो फिर उसमें क्या था ? इतनी दूर से, दीये के उजेले में, किसी घूमती हुई आकृति की देहलता का इससे अधिक पृथक्करण करना असम्भव था ; तथापि इसमें कोई सन्देह न था कि नृत्य में डूबे हुए उस वर्तुल की स्त्रियों में, उससे भी कहीं अधिक सौन्दर्यमयी उन युवतियों में, उसके जैसा आकर्षण न था। धनंजय की चकोर दृष्टि ने तुरन्त ही ताड़ लिया कि इस सत्य का जैसा अनुभव उसने किया है, वैसा ही अनुभव दूसरे पुरुषों और स्त्रियों को भी हुआ है। परन्तु इस सत्य को समझकर भी वह यह न समझ सका कि उस स्त्री को देखते ही उसे वैसा आघात क्यों हुआ था। धनंजय कुछ देर इन्हीं विचारों में डूबा रहा। इस बीच दो-तीन गरबे हुए। यद्यपि धनंजय उस ओर उपेक्षा-भरी दृष्टि ही डालता था, तथापि उतने ही में उसकी आँखें उस अपरिचित स्त्री के अङ्ग प्रत्यंग के सूक्ष्म अभिनय और गति को निरख लेती थीं।

कोई तीन गरबों के बाद वह स्त्री वर्तुल से बाहर आ गई। धनंजय ने ऐसे अनेक गरबे देखे थे। अनक अति रूपवती रमणियों को उनमें काम करते देखा था। उन रूपसोयों में अनेक नवयौवनाओं के मधुर संगीत का उसने आकण्ठ पान किया था। लेकिन इस तरह किसी स्त्री का गरबे के वर्तुल में आना और निकल जाना एक बिलकुल नई चीज़ थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो किसी अद्भुत सौंदर्य के दर्शन हुए, और वह तुरन्त ही विलीन हो गया। ऐसे समय मन में जो एक मीठा,

किन्तु दारुण असन्तोष उत्पन्न होता है, वही आज धनंजय के हृदय में उत्पन्न हो चुका था। पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था। आज ही ऐसा क्यों हुआ, यह उसकी समझ में न आता था। अन्त में वह उस अपरिचित स्त्री पर क्रुद्ध हो उठा। उसकी बुद्धि उसके अभिनय की त्रुटियों और शारीरिक सौंदर्य के दोषों को ढूँढ़ने का यत्न करने लगी। लेकिन इस कार्य में वह अपने हृदय की सहानुभूति न पा सका।

वह ऐसी ही अस्वस्थ मनोदशा में बैठा सोच रहा था, कि इतने में उसकी पुत्री रूपा उसी अपरिचित स्त्री को लेकर उसके पास आई। उस स्त्री के हाथ में एक, और रूपा के हाथ में दूध के दो प्याले थे।

रूपा ने धनंजय की ओर एक प्याला बढ़ाते हुए कहा—छोटे चचा! तुम इतने अँधेरे में बैठे हो कि आज तुम्हें दूध ही न मिलता! ग़नीमत समझिये कि मुझे याद आ गई।

अपनी व्यग्रता छिपाने के लिए वह अपरचित स्त्री बीच ही में बोली—आखिर आप उनकी बेटी हैं, क्या आपको इतना भी न करना चाहिये!

अपने पास एक कुर्सी खींचकर और उस अपरचित स्त्री को उस पर बैठने को कहकर रूपा बोली—मीना मौसी, आप खड़ी क्यों हैं? आइये, इस कुर्सी पर बैठिये। आप इस खयाल में न रहिये कि छोटे चचा आपसे बैठने को कहेंगे।—फिर धनंजय से बोली—और छोटे चचा, लीजिये, मैं आप दोनो का परस्पर परिचय करा दूँ। यह मेरे छोटे चचा, पिताजी, धनंजय हैं। और यह श्रीमती मीनाक्षी देसाई हैं। मेरे पिता प्रोफेसर और चित्रकार हैं, और मुझ-जैसी विदुषी युवती के पिता हैं। मीना मौसी गरबा और नृत्य में निपुण हैं और चित्रकार बनने का यत्न कर रही हैं। बस, मेरा काम हो गया। अब मैं जाती हूँ।—यह कहकर रूपा वहाँ से झटपट चली गई।

रूपा के जाने के बाद दोनो के लिए वह मौन असह्य हो पड़ा।

धनंजय के समान अपने छोटे-से संसार में सुप्रसिद्ध पुरुष के साथ यों बातचीत का अवसर प्राप्त करके भी सहज ही मीनाक्षी को कुछ सूझ न पड़ा कि वह कैसे शुरू करे। इसलिए उसने अपना ध्यान दूध पीने में लगा दिया। लेकिन धनंजय के लिए इस प्रकार अपरिचित स्त्रियों से मिलना और बातचीत करना न तो अस्वाभाविक था, न असाधारण ही; फिर भी न जाने क्यों उसका दिल धड़कने लगा। अपनी इस क्षणिक निर्बलता पर क्रुद्ध होकर धनंजय ने बोलने के विचार से मीनाक्षी की ओर देखा। मीनाक्षी ने भी उसी क्षण उसकी ओर देखा। धनंजय ने एक बार फिर उसी विद्युताघात का अनुभव किया। वह सिहर उठा। उधर मीनाक्षी भी लगभग इसी तरह सिहर उठी। उसका हाथ काँप गया। कप का दूध छलका और साड़ी पर आ गिरा।

इस बीच धनंजय ने अपने को सँभाल लिया। उसने मीनाक्षी के हाथ से कप और रकाबी लेकर नीचे रख दिये, और इससे पहले कि मीनाक्षी अपना रूमाल जेब से निकाले, उसने खस के इत्र से महकता हुआ अपना रेशमी रूमाल उसके हाथ पर रख दिया।

मीनाक्षी ने अशान्त भाव से कहा—नहीं, नहीं; यह उम्दा रूमाल ख़राब हो जायगा।

'इम्पार्टेंट मेटर'—कहते-कहते धनंजय का मुँह लाल हो उठा। उसकी समझ में नहीं आया कि स्त्रियों का सम्मान करने की यह भावना एका-एक उसमें कैसे उमड़ आई! वह क्षुब्ध हो उठा। उसने अपने ओठ काट लिये।

मीनाक्षी की हिम्मत न हुई कि वह रूमाल के बारे में ज़्यादा आना-कानी करे। उसने इसी रूमाल से अपनी साड़ी पर गिरा हुआ दूध पोंछा; और उसी धुन में हाथ और मुँह भी उसी रूमाल से पोंछ लिये। फिर रूमाल लौटाते हुए उसने कहा—थैंक्यू, वेरीमच! खस का इत्र बहुत बढ़िया मालूम होता है।

धनंजय ने अपने को सँभालते हुए और रूमाल वापस लेते हुए कहा—इस ऋतु में खस से बढ़कर और कौन इत्र हो सकता है ! फिर जिज्ञासा के भाव से बोला—आप कहाँ रहती हैं ? क्या यहीं !

मीनाक्षी इस बीच स्वस्थ हो चुकी थी। उसने कहा—जी हाँ, आपसे मिलने की कई दिनों से बड़ी इच्छा थी ; लेकिन कोई अवसर हाथ न आता था। अच्छा हुआ कि आप आज इस गरबे में आ गये। मेरी भाँजी और रूपा दोनो में गाढ़ मित्रता है। आज इसीलिए मैंने रूपा को यह काम सौंपा था।

'आप जानती हैं, नृत्य और गरबे से मुझे काफ़ी दिलचस्पी है ; इसलिए मैंने आपका नाम तो कई बार सुना था ; लेकिन संयोग की बात है, कि कभी गरबे में आपको भाग लेते देख ही न सका।'—धनंजय ने अबकी अपने सहज उदासीन भाव से शान्ति-पूर्वक कहा। वह फिर बोला—रूपा आपकी भाँजी की सहेली है, इसलिए आप रूपा की मीना मौसी हुई। हँ अँ अँ ! रूपा को ऐसे रिश्ते जोड़ने की कला खूब याद है - वह उसमें प्रवीण भी हो रही है। अच्छा, तो मैं एक बात पूछ लूँ ! मेरे सिगरेट पीने में आपको कोई आपत्ति तो नहीं है न ?

मीनाक्षी ने हँसते-हँसते कहा—अगर आप देशी बीड़ी या सिगार पीते, तो मैं ज़रूर एतराज़ करती। लेकिन सिगरेट से मुझे कोई शिकायत नहीं। उसकी हँसी में जो मिठास थी, उसने धनंजय को चौंका दिया। धनंजय ने मीनाक्षी को एक नज़र देखा। उसकी हँसी में उसे वह हूँफ मालूम हुई, जो जाड़ों की गुलाबी सर्दी में हीने के इत्र से मिलती है। इसी समय धनंजय की दृष्टि मीनाक्षी की आँख पर पड़ी। मस्ती, चपलता और उच्छृङ्खलता के स्थान पर उसने उनमें किसी अकथनीय दुःख की गहराई और पिंजरबद्ध आत्मा की वह तड़पन देखी, जो स्वतन्त्र होने को छटपटाती है।

इतने में मीनाक्षी बोल उठी मुझे चित्रकला से प्रेम-सा है।

क्या कभी-कभी, जब आपको फुरसत हो, मैं आपके पास आऊँ? विद्यार्थिनी बनकर आपको दिक़ करने नहीं, बल्कि आपको चित्र बनाते देखने के लिए।

इस स्वर की किसी झनकार ने धनंजय के हृदय में एक निराली ही भावना पैदा कर दी। जिसके जीवन का ध्येय ही परम शान्ति है, उसके पास यदि अशान्ति का सागर आकर उछलने लगे, तो सोचिये उसको कैसी वेदना होगी! धनंजय ने इस समय उसी वेदना का अस्पष्ट-सा अनुभव किया। कुछ देर के लिए वह तनिक भयभीत भी हो उठा। लेकिन ऐसे मामलों में वह बड़ा स्वाभिमानी था। वर्षों से उसने अपनी शक्ति और स्वास्थ्य को बनाये रखा था, इसलिए उसमें ग़ज़ब की उदासीनता थी। बड़ी शान्ति के साथ उसने जवाब दिया—ज़रूर आइये; साथ ही कुछ सिखती भी रहिये। जब आप आना चाहें, रूपा के ज़रिये या किसी और ज़रिये से थोड़ी ख़बर करा दीजिये।

'थैंक्यू' कहते-कहते मीनाक्षी उठी और उठते-उठते अपने प्याले के साथ उसने धनंजय का प्याला भी उठा लिया। इस उठाने की क्रिया में उसका छोटा रूमाल वहीं गिर गया। मीनाक्षी का उधर ध्यान न था, इसलिए वह तो अपनी सहज मुसकान के साथ वहाँ से चल दी। मगर धनंजय ने रूमाल देख लिया; झपटकर उठा लिया, और इसके पहले कि बुद्धि इस व्यापार में कुछ भाग ले, उसने अपने हाथ से उस रूमाल को बलपूर्वक दबाया। और, इस क्रिया के साथ ही धनंजय के मुँह से क्रोध, आश्चर्य और सखेद आनन्द का एक मिश्रित सीत्कार निकल गया।

उसने धीमे से पुकारा—मीनाक्षी!

और मीनाक्षी ने मुड़कर देखा।

'आपका यह रूमाल गिर गया था।'

मीनाक्षी दो क़दम लौटी और एक हाथ में दोनो कप लेकर दूसरे

हाथ से रूमाल ले लिया। फिर अर्द्ध स्मित के साथ वह चली गई।

धनंजय ने इस सारे दृश्य को अपने हृदय में दोहराया। तीन साल पहले का यह दृश्य था। उसके शान्त जीवन में उस दिन पहली बार मीनाक्षी रूपी अशान्ति ने प्रवेश किया था। उसने तनिक बेचैनी के साथ फिर रिस्टवॉच की ओर देखा। साढ़े चार में अब भी थोड़ी देर थी। वह हताश भाव से फिर विचारों में डूब गया।

उसने याद करना शुरू किया—इस पहली घटना के बाद आठ-दस दिन तक वह मीनाक्षी से न मिला। फिर एक दिन अचानक मीनाक्षी धनंजय के घर आई ! चित्रकला, संगीत, साहित्य आदि अनेक विषयों पर धनंजय ने उसके साथ चर्चा की। चाय पी गई। इधर-उधर की बहुत-सी बातें भी हुईं।

इसके बाद धनंजय भी कभी-कभी मीनाक्षी के घर जाता ; लेकिन अधिकतर मीनाक्षी ही धनंजय के पास आती।

शुरू-शुरू में धनंजय ने मीनाक्षी से वैसे ही बात-चीत करने का यत्न किया, जैसे वह अपनी अन्य स्त्री-मित्रों के साथ किया करता था—वह बातचीत, जो कटाक्ष, हास्य और उपहास के मिश्रण में भरी रहती थी। लेकिन न जाने क्यों, मीनाक्षी के साथ वह अधिक समय तक ऐसा न कर सका। आरम्भ में तो ऐसा ही होता था, लेकिन फिर तुरन्त ही वह गम्भीर हो उठता था। धीरे-धीरे परिचय बढ़ा। मीनाक्षी इससे चित्रकला और साहित्य का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर रही थी ; लेकिन कुछ ही समय के बाद धनंजय ने अनुभव किया, कि ज्ञान-दान की इच्छा से एकदम निराली, कोई बलवती इच्छा, उसे इस मित्रता की ओर ठेल रही थी। मीनाक्षी के ज्ञान की अपेक्षा, उसके दैहिक सौन्दर्य से भी बढ़कर उसकी आत्मा की सुन्दरता और उसके जीवन की अज्ञात गहराई, धनंजय को उसकी ओर अधिकाधिक आकर्षित-सी कर रही थी। फिर भी वह मीनाक्षी के हृदय को, उसके अन्तरतम की

अभिलाषा को परख न सका। कभी वह सोचता, मीनाक्षी के हृदय में भी उसी के जैसे भाव उदित हुए हैं; और कभी प्राय: तुरन्त ही, उसे अपनी यह धारणा मिथ्या प्रतीत होती।

एक घटना उसकी आँखों के सामने घूम गई। मीनाक्षी क़रीब दो घण्टे से बैठी उसके साथ बातचीत कर रही थी। महाराज और नौकरों की अनुपस्थिति के कारण उस दिन मीनाक्षी को स्वयं चाय बनानी पड़ी थी। दोनो ने मिलकर चाय पी। मीनाक्षी जाने को उठी। धनंजय द्वार तक उसके साथ गया। दरवाज़े से बाहर आँगन में पैर रखते ही मीनाक्षी ने कहा—जाती हूँ, भला!

उत्तर में धनंजय ने सहज भाव-भीने स्वर से पूछा—जाती हैं? अच्छा, फिर कभी आइये। कब आयेंगी?—और सहसा धनंजय ने अपना हाथ बढ़ा दिया। मीनाक्षी पहले तो कुछ सहमी, फिर एक ओर को देखते हुए उसने भी अपना हाथ बढ़ा दिया। धनंजय ने हस्तान्दोलन में बरते जानेवाले बल की अपेक्षा कुछ अधिक बल का उपयोग किया। मीनाक्षी चली गई। इस प्रकार स्त्रियों के साथ हस्तान्दोलन करने की आदत धनंजय को न थी। लेकिन इस बार उसने किया! क्यों किया? धनंजय के हृदय और बुद्धि ने इस छोटी-सी बात को बहुत बड़ा रूप देकर उस पर घंटों विचार किया। इस क्षुद्र-सी घटना को भूल जाने का उसने हरवक्त यत्न किया, किन्तु असफल होना पड़ा। इसके बाद इस तरह की मुलाकातों के अन्त में धनंजय अपना हाथ बढ़ाता, मीनाक्षी उत्तर में अपना हाथ बढ़ा देती। फलत: दोनो के हाथ का गाढ़ स्पर्श होता। मगर यह वह समय होता था, जब न धनंजय मीनाक्षी के सामने देख पाता; और न मीनाक्षी धनंजय को देख सकती।

उसके बाद की एक और घटना—मीनाक्षी आई, लेकिन पन्द्रह मिनट के लिए। उसे कहीं ज़रूरी काम था और वह जल्दी ही लौट

जाने को थी। इसके सिवा उसने यह भी कहा कि वह एक दो महीनों के लिए बाहर जा रही है। इस समय तक मीनाक्षी का परिचय कोई दो साल पुराना हो चुका था। इस बीच धनंजय स्वयं भी बाहर गया था, मीनाक्षी भी गई थी; अतएव मीनाक्षी का फिर बाहर जाना अस्वाभाविक या असाधारण न था। फिर भी धनंजय की समझ में न आया कि अबकी इस ख़बर को सुनकर वह काँप क्यों उठा?

'क्या आप—आप चाय भी न लेंगी?'—धनंजय ने कम्पित स्वर से पूछा।

'तैयार होगी, तो लूँगी क्यों नहीं!'—उसी रहस्यमय, वेदना-पूर्ण, हलकी मुसकान के साथ मीनाक्षी ने जवाब दिया, फिर मानो अपनी व्यग्रता छिपाने और अपने को सँभालने के लिए उसने मुँह पर आये हुए पसीने को पोंछने के बहाने अपना रूमाल निकाला। धनञ्जय की आँखें मीनाक्षी के उस मामूली-से छोटे रूमाल पर अटक गईं। बिना कुछ सोचे-विचारे ही वह बोल उठा—मुझे एक चीज़ न दोगी?

इस प्रश्न-गत वेदना से सहज चौंककर मीनाक्षी ने पूछा—कौन चीज़?

'यह—यह रूमाल।' धनञ्जय के हृदय की व्यथा बढ़ रही थी। धनञ्जय के लिए, जो अब तक दूर से, तटस्थ रहकर, स्त्रियों के हृदय और सौंदर्य की मीमांसा किया करता था, यह मार्ग एकदम अज्ञात और अपरिचित था। कुछ अरुचिकर भी प्रतीत होता था; लेकिन दूसरा कोई उपाय न था। आज हृदय की आज्ञा को ठुकराकर आगे बढ़ने में वह सर्वथा असमर्थ था।

फिर उसी रहस्यमय, वेदना-पूर्ण स्मित के साथ मीनाक्षी ने कहा—इस रूमाल पर इतनी आसक्ति! मैं इससे भी बढ़िया रेशमी रूमाल फूल-पत्ती बनाकर दूँगी।

इस उत्तर ने, इस स्मित ने और इसमें रही हुई अस्पष्टता और

आशा ने सरल और शान्तिप्रिय धनंजय को व्याकुल कर दिया। वह तिलमिला उठा। उसने कहा—आप जान-बूझकर यह सब कह रही हैं ! या ऐसी बातों से अनभिज्ञ हैं !—कहते-कहते उसके मुख पर एक असह्य वेदना की छाया प्रकट हो उठी। उसने फिर कहा—मुझे इसी रूमाल की ज़रूरत है। देंगी ?

कमरे और गैलरी के बीचवाले दरवाज़े के सामने मीनाक्षी खड़ी थी। अकथनीय, अवर्णनीय आशा और अभिलाषा की पुत्तलिका-सी, वह क्षणभर धनंजय को अपलक निहारती रही। उसकी आँखों से, उसकी समस्त आकृति के अभिनय पर से धनंजय ने उसके हृदय के भावों को ताड़ने का यत्न किया, लेकिन निराश होना पड़ा। धनंजय विक्षिप्त सा होकर कुर्सी छोड़ उठ खड़ा हुआ।

मीनाक्षी ने उसी मुसकान के साथ पूछा—क्या आप रूमाल छीनेंगे ?

धनञ्जय हँसा ; उसकी हँसी में आवेश और तिरस्कार गूँज रहे थे। उसने कहा—कभी कोई चीज़ ज़बरदस्ती ली नहीं है, न लेने की इच्छा है। कहिये, देंगी ?

मीनाक्षी ने दूसरी तरफ देखते हुए जवाब दिया—ओह् हो ! बड़ी देर हो गई। बातों में समय का ध्यान ही न रहा। अच्छा जाती हूँ।

धनञ्जय के कुछ कहने से पहले ही मीनाक्षी ने कुछ समीप आकर उसके हाथ पर वह रूमाल रख दिया और झटपट चली गई।

इस घटना के बाद धनञ्जय का हृदय और भी अस्वस्थ एवं अशान्त हो उठा। मीनाक्षी से मिलने की उसकी इच्छा और आतुरता असीम हो उठी ; सीमा से बाहर चली गई !

एक तीसरी घटना—उस दिन मीनाक्षी निश्चित समय से क़रीब एक घंटा देर करके आई। आकर धनंजय के सामने बैठ गई। दोनो

की बातचीत में गाम्भीर्य और वेदना की मात्रा बढ़ रही थी ; मगर दोनो की कोशिश यह थी कि चर्चा अधिक गम्भीर न बन जाये।

बिलकुल सीधी-सादी, सरल-सी बातें हो रही थीं। सहसा धनंजय बोल उठा—ग़नीमत है कि आपका रूमाल मेरे पास है ; नहीं, मैं तो पागल हो ही चुका होता। क्योंकि जब तक दिन में तीन-चार बार मीनाक्षी से बातचीत नहीं होती, मुझे चैन नहीं पड़ता। इस रूमाल से बातें कर लेता हूँ।

क्षण-भर के गम्भीर मौन के बाद अपनी उसी मुसकान के साथ मीनाक्षी ने कहा—पागलपन नम्बर वन !

सुनी-अनसुनी करके धनंजय ने कहा—एक बार तुम्हारी बेनी से कुछ फूल गिर पड़े थे ; वे मेरे पास सुरक्षित हैं। उनसे बातें करने में बड़ा मज़ा आता है। तुम्हारे हृदय की अपेक्षा उनके हृदय की कोमलता कहीं अधिक है।

फिर उसी मुसकान के साथ मीनाक्षी ने कहा—पागलपन नम्बर टू !

अपनी आँखों द्वारा प्रेम के उस पागलपन को स्पष्ट करते हुए धनंजय ने कहा—मैं तो पागल बन ही गया हूँ। फिर उसकी गिनती करने से क्या लाभ ? अपने पागलपन को मिटाने, और मिटा न सकने पर छिपाने के अब तक मैंने बहुत प्रयत्न किये हैं ; लेकिन अब और प्रयत्न करने की शक्ति नहीं रही।—धनंजय कुछ ऐसी ही बातें और कहने जा रहा था कि इतने में उसका ध्यान मीनाक्षी के क्षुब्ध मुँह की ओर गया। इससे वह ज़रा चौंका और फिर बोला—मीनाक्षी ! घबराने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। मैं पहले एक बार कह चुका हूँ और आज फिर कहता हूँ। मैंने किसी से बलात् कोई चीज़ कभी ली नहीं, न लेने की इच्छा ही है। और बलपूर्वक ली हुई वस्तु का, प्रेम का, मूल्य ही क्या !

इतना कहकर धनंजय रुक गया। उसके चेहरे पर थकावट के चिह्न प्रकट हो रहे थे। वह शिथिल-सा कुर्सी पर पड़ गया। क्षण-भर दोनो ने गाढ़ मौन का अनुभव किया।

धनंजय की विचार-माला फिर टूटी। उसने सजग होकर पुनः घड़ी की ओर देखा। ४-३२ हो चुके थे। धनंजय का धैर्य छूटने लगा। वह अधीर हो उठा। उसकी निर्मल आँखों में प्रेम का नशा छा चुका था—प्रेमोन्माद के लक्षण स्पष्ट प्रकट हो रहे थे। उसके हाथ काँप रहे थे। इतने में सामने का दरवाज़ा खुला। मीनाक्षी ने अन्दर प्रवेश किया। धनंजय ने उसकी ओर आशा, निराशा, आनन्द, और दुःख से पूर्ण तीक्ष्ण दृष्टिपात किया और अपने दोनो हाथ फैला दिये। उत्तर में मीनाक्षी ने भी सिर झुकाकर हाथ फैला दिये। चारों हाथों ने परस्पर एक दूसरे के स्पर्श का अनुभव किया।

दोनो, कमरे में आकर बैठ गये। कुर्सी पर बैठने के बाद भी किसी को मौन भंग करने का साहस न हुआ। मीनाक्षी कहना चाहती थी कि वह फिर डेढ़ महीने के लिए मायके जा रही है। जाने से पहले आज ज़रा निश्चिन्त होकर मिलने आई है। उसने कहने का यत्न किया, लेकिन मुँह की बात मुँह ही में रह गई। धनंजय ने चाहा कि पाँच-सात मिनट देर करके आने के लिए वह मीनाक्षी को उलहना दे; लेकिन वह दे न सका—असफल रहा! मीनाक्षी कुर्सी के हत्थे पर अपनी अँगुलियों से ताल दे रही थी; किन्तु दिल और देह की अस्वस्थता स्पष्ट ही उस ताल पर थिरक रही थी।

धनंजय के मस्तिष्क के तंतु टूट रहे थे—मीनाक्षी...

'मीनू-मीनू!' धनंजय ने फिर से बोलने की कोशिश की और बोलकर उस असह्य-से मौन को तोड़ना चाहा। लेकिन वह इससे अधिक बोल न सका; उसने एक प्रार्थी की तरह, दुःखपूर्ण आतुरता के साथ अपने दोनो हाथ मीनाक्षी की ओर फैला दिये। अपनी सारी शक्ति

एकत्र करके वह अपने प्रेमोन्मत्त नेत्रों से मीनाक्षी को अपलक देखने लगा। मीनाक्षी ने भी हृदय में जागे हुए उस प्रचण्ड तूफ़ान से टक्कर लेने की अन्तिम चेष्टा की ; लेकिन जब उसमें असफल हुई, तो अपनी गहरी आँखों द्वारा धनंजय के प्रेमातुर नेत्रों से बरसनेवाले प्रेम-रस को पीने लगी, और अपने दोनो हाथ धनंजय को सौंप दिये।

दोनो के बीच का अन्तर कम हो गया। धनंजय ने मीनाक्षी को दोनो हाथों से सँभाला, उसे हाथ का सहारा देकर खड़ा किया, और खुद भी उठ खड़ा हुआ। पलमात्र के लिए दोनो एक-दूसरे को एकटक निहारते रहे। फिर धनंजय ने मीनाक्षी को खींचकर अपने भुजपाश में समेट लिया। मीनाक्षी ने अपना मुँह ऊपर को उठाया। धनंजय ने अपने ओठ मीनाक्षी के ओठों का रसपान करने को नीचे झुकाये। मीनाक्षी ने अस्पष्ट, मधुवर्षी वाणी में कहा—पागलपन नम्बर...

इतने में तो दोनो के ओठ एक-दूसरे से जुड़-से गये !

मीनाक्षी को आये पाँच-सात मिनट ही हुए थे। धनञ्जय अभी उसके चुम्बनों के उन्मादपूर्ण आस्वाद, उसके प्रस्वेद की मीठी महक, और उसके अंग-स्पर्श से उत्पन्न अपूर्व आनन्द की मस्ती से मुक्त भी नहीं हो पाया था, कि इतने में डाकिये ने आकर पेटी में एक पत्र छोड़ा। उदासीन भाव से धनञ्जय बाहर गया और पत्र ले आया। गोपाल के अक्षर उसने तुरन्त पहचान लिये। लिफाफा खोलकर उसने पत्र पढ़ा। उस लम्बे पत्र के अन्त की इन पंक्तियों ने उसके ध्यान को बरबस अपनी ओर खींचा—

'हमारे समाज की तरह यहाँ के स्त्री-पुरुष अपने-अपने पारस्परिक आकर्षण और प्रेम-पिपासा को अवरोध करने के बदले प्रकट रूप में इनके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। जब मैं उन्हें यों खुल्लमखुल्ला विहार करते देखता हूँ, तो मुझे अपने अटल, अजेय धनंजय का स्मरण हो आता है। और, सहज ही में सोचने लगता हूँ कि हमारे देश की मुर्दा

शान्ति में जीवन व्यतीत करने के बदले यदि धनंजय यहाँ के जीवन का अनुभव करता, तो कैसा रहता ? क्या इस हालत में भी वह इसी तरह अटल, उदासीन और अजेय रह सकता ? इसके जीवन में कोई परिवर्तन होता ही नहीं ?'

सद्यः प्राप्त मद को, और उद्भूत अनेक मीठी तरंगों को बलात् अपने अन्दर दबाने का यत्न करते-करते, धनंजज ने जब ये पंक्तियाँ पढ़ीं, तो वह ठहाका मारकर हँस पड़ा। उसकी वह हँसी विकट, उपेक्षापूर्ण, खेदपूर्ण, सन्तापजनक, दिव्यानन्द से तरंगित और अशान्ति के सागर-सी निष्कपट थी !

मिलन की रात

'आशा महतो आये ! आशा महतो आये !'

जाड़ों के दिन थे। शाम का वक्त। बच्चे आँगन में खेल रहे थे। ज्यों ही उन्होंने एक परिचित और अतिप्रिय मेहमान को अपनी ओर आते देखा, वे एक साथ पुकार उठे—आशा महतो आये ! आशा महतो आये !

मेहमान की मौसेरी सास चबूतरे पर बैठी, सूप से दबी हुई कोदरी *

* एक तरह का अनाज, जो गुजरात के गाँवों में बहुतायत से खाया जाता है।

फटक रही थी। उसने तुरन्त मुँह पर घूँघट खींच लिया; हालाँकि इस घूँघट के खींचने से उसकी देह के अन्य ढँकने योग्य अङ्ग अर्ध-पर्दे खुल गये। मर्द अभी खेत से लौटे न थे; इसलिए मेहमान के आदर-सत्कार का बोझ इन्हीं बच्चों और मौसेरी सास पर आ पड़ा था।

सास ने अपनी एक द्वादशवर्षीया लड़की को पुकारकर कहा—ऐ पाली, महतो के लिए खटिया डाल दे और उसपर अन्दर से सफेद गुदड़ी लाकर बिछा दे। अँधेरा होने से पहले मैं यह कोदरी पछोर लूँ और फिर उठूँ।

यह पाली बड़ी चालाक और मसखरे स्वभाव की लड़की थी। सास को चाहिये था कि वह खुद उठकर प्रेम से जमाई की आवभगत करती, मगर यह काम पाली को सौंपा। इसके मूल में अँधेरा होने का डर तो था ही, दूसरे शायद मेहमान की दावत के लिए भी इन कोदरों को साफ़ कर लेने की ज़रूरत थी।

खटिया बिछ गई। महतो ने अपने कंधे पर पड़ी हुई चादर उतारी, खाट पर रखा और थोड़ा खँख रकर बैठे। इतने में घर के कोने के पास छिपे हुए बालक इस तरह ही-ही-ही-ही करके हँस पड़े, मानो किसी तमाशे की राह में खड़े हों, किसी के हुक्म से हँसे हो!

'मर रे, राँड़ पाली, खड़ी रह।'—कहती हुई मौसेरी सास उठी और खींचकर दहलीज के पास पड़ा हुआ एक जूता पाली की ओर फेंका। बात यह थी कि पाली ने महतो के लिए बड़ी खूबी से एक 'तिपाई' खाट बिछा दी थी। महतो ज्यों ही उस लँगड़ी खाट पर बैठने चले, त्यों ही एक अजीब-सी गुलाँट खा गये। पाली उपहास-द्वारा अपने इन परम प्रिय बहनोई (जीजा) की बड़े प्रेम से उपासना किया करती

इस भक्ति का आविर्भाव बहन-बहनोई के ब्याह के दिन से ही हो चुका था। इसलिए जब कभी ये मिलते, तभी महीनों या बरसों से रुकी हुई भक्ति अपने प्रचण्ड वेग से प्रकट हो जाती; क्योंकि सुभरे

हुए या पढ़े-लिखे लोगों की तरह चिट्ठी-पत्री-द्वारा भावों का आदान-प्रदान करने की सुविधा उसे प्राप्त न थी।

ब्याह के समय वर को छकाने में दूर-पास की जिन सालियों और सलहजों ने होड़ बदी थी, उनमें रेकार्ड तोड़ने का श्रेय पाली को ही प्राप्त हुआ था। वैसे तो जमाई भी इन लोगों की भाव-भक्ति का यथोचित उत्तर देते ही रहते हैं; लेकिन आशा महतो बेचारे सुभाव ही से कुछ ऐसे सहनशील, नरम या शान्त तबीयत के थे कि प्रायः जवाब देने में, जैसे के तैसा परखने में, चूक जाते थे। इससे उनके भक्तों को उन्हें चिढ़ाने में और भी मजा आता था। किन्तु जिस तरह वे इस हँसी-मज़ाक को बरदाश्त कर लेते थे, उससे उनकी कुलीनता में संदेह न रह जाता था। अधिकांश जमाई जवाब देने में जिस हद तक बढ़ जाते हैं, यद्यपि यहाँ उसका ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं, उस हद तक वह कभी न बढ़े थे। पान के बीड़े के साथ चूहे की लेंड़ी उन्होंने चबाई थी; खारी चाय उन्होंने पी थी; बकरी की लेंड़ी का हुक्का उन्होंने गुड़गुड़ाया था, ऐसे-ऐसे न जाने कितने प्रयोग उन्होंने अपने ऊपर होने दिये थे! लेकिन जब लड़कियाँ गीतों में कुतिया और बिल्ली के साथ उनका ब्याह करातीं और वैसे गीत गातीं, तब वह सिर्फ इतना ही कहते — तो तुम और कौन हो!

इसके जवाब में वे यह कहकर भाग जातीं—तो फिर आओ न हमें ब्याहने!

लेकिन आज का अवसर कुछ और ही था। वह हँसी-ठठोली के बदले गम्भीर उदासी की अपेक्षा रखता था। विधुर होने के बाद आशा महतो आज पहली ही बार इधर आये थे। इस बात का सास ने तो लिहाज रखा, लेकिन ये छोकरियाँ! वे क्यों पर्वा करने लगीं? मनुष्यों में बालकों का, यानी दस-पन्द्रह बरस की लड़कियों का, गम्भीर बनकर बैठना संभव नहीं होता। उलटे, जैसा कि हमारा दस्तूर है, प्रायः एक

स्त्री की मौत के साथ दूसरी स्त्री का सौभाग्य जुड़ा रहता है ; इसलिए स्त्री की मौत पर क्वचित् ही कोई शोक मनाता है। विशेषकर जब जमाई-सा जमाई तीन पैरोंवाली खाट पर बैठकर गुलाँट खाता हो, तब तो मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े भी इतना हँस लेने का दिल हो ही जाता है।

'ऐ पाली इधर मर।' मौसेरी सास ने कड़ककर पुकारा। बच्चों के दल से अलग होकर पाली धीमे-धीमे मा के पास गई। मा ने कहा—जा बिटिया, अपने जीजा को पानी दे आ ; उन्हें सताना नहीं, भला !

पाली एक चिकने कलसे में पानी लेकर आई और कलसा बहनोई को देकर खुद आँचल में हाथ छिपाये, ओढ़नी से ओठों तक मुँह ढके, खड़ी रही। जब आशा महतो कोई पौन कलसा पानी पी चुके, तो उसने ढँके हुए ओठों के अन्दर ही हँसना शुरू कर दिया। महतो चौंके, उनके कान खड़े हो गये। हाथ का कलसा हाथ ही में रह गया। और अपलक आँखों से वह उन तूफानी आँखों को देखा किये।

'और क्या किया री, डाकिन ?'—मा ने 'कोदरी' फटकना बन्द करके पूछा। लेकिन इस 'डाकिन' ने क्या कुछ किया था, सो कोई कह नहीं सकता था। मा की डाँट सुनते ही लड़की ने मुँह से अपना हाथ हटा लिया और खिलखिलाकर हँसता हुआ उसका वह मुखड़ा एक अनोखी आभा से दीप्त हो उठा। सिटपिटाये-से और अचरज में डूबे-से पुरुष की आँखें उस जाज्वलयमान् स्त्रीत्व को निरख रहीं। इधर पाली हँसकर शान्त हुई, उधर आशा महतो के मुँह पर एक हलकी-सी मुसकान छा गई। दोनो एक-दूसरे को मन्द-मन्द मुसकान के साथ देखा किये—एक क्षणार्द्ध से भी आधे क्षण के लिए।

'कैसा छकाया !'—पाली ने उमगकर कहा।

'धत्तेरी की।'—आशा महतो ने संक्षेप में जवाब दिया। और

दूसरे ही क्षण जब एकाएक आई हुई लज्जा और मुग्धता के भाव से वह उसकी ओर देखने गये, पाली जा चुकी थी।

'छोकरी, बहुत ज़्यादा शरारत न कर, नहीं तेरे बाप से कहकर ऐसी पिटवाऊँगी कि याद करेगी। जा, चूल्हा जला और उसपर बटलोई रख। फिर कुएँ से थोड़ा पानी ले आ।'

लापरवाही-सी जताती और कन्धे उछालती पाली घर के अन्दर गई और दो बड़े-बड़े गगरे लेकर बाहर निकली।

'चलो अली, चलो, जिसे कुएँ पर चलना हो, चलो।'—कहकर लड़कियों की एक टोली को अपने साथ लिये वह शान से चली गई।

* * *

आसमान में तारे टिमटिमाने लगे; 'मुँह सूझना' बन्द हो गया; अँधेरा बढ़ गया; चादर ओढ़कर बैठने-जैसी ठण्डी-तीखी बयार बहने लगी। इसी समय खेतों पर से मर्द लौटे। आशा महतो के मौसेरे ससुर ने और पास-पड़ोस के लोगों ने अपने हल-बक्खर, गाड़ी, बैल सब ठीक-ठिकाने रख दिये और फिर वे अपने-अपने घरों की तरफ़ चले। आँगन में, खाट पर किसी को बैठा देख, मौसेरे ससुर ज़रा अटके, ताककर देखा, और बोले—कौन हैं? आशा महतो हैं क्या?

'राम राम, परताप महतो!' कहते हुए आशा महतो खड़े हो गये और दोनो हाथ बढ़ा दिये। परताप महतो ने दामाद को हाथों हाथ लिया और दोनो हल्के-हल्के गले मिले।

'अरे ओ चंदू, वह सौंटी ले आ, और अलाव जला।'—परताप महतो ने पाली के भाई को पुकारा और खुद चबूतरे पर बैठ गये।

चन्दू ने अलाव जलाया और धीरे-धीरे मुहल्ले के सभी मर्द उसके इर्द-गिर्द आकर बैठ गये। परताप महतो के घर से हुक्का आया, सौंटी की आग चिलम में भरी गई और हुक्का हाथों-हाथ फिरने लगा। लोग

हुक्का गुड़गुड़ाते जाते थे ; गपशप लड़ाते जाते थे और अलाव की घटती-बढ़ती रोशनी में अपने मेहमान के मिठास-भरे मुँह की ओर देखते जाते थे। मेहमान की दाढ़ी बढ़ी हुई थी, उस पर आध इंची बाल चमक रहे थे। उनके पतले सुहावने ओंठ, सीधी लम्बी नाक और काली बड़ी-बड़ी भौंहे, सबका ध्यान अपनी ओर खींच रही थीं।

अलाव की आँच बीच बीच में धमी पड़ जाती। उसमें नया ईंधन डाला जाता, और कुछ देर धुँआने के बाद वह भधक उठता। अलाव का वह धुआँ तापनेवालों की नाक को सहज सिकोड़ता हुआ, ऊपर चढ़ जाता ; और लौ के उठते ही उसके प्रकाश में सब के सिकुड़-सिकुड़े मुँह पुनः अपनी असली हालत में आते दिखाई पड़ते। इस क्षणिक विघ्न की स्थिति में बातचीत के शब्द टूट-टूटकर फैल-से जाते। बातों का सिलसिला कभी टूटता, टूटकर फिर वहीं से जुड़ जाता, या फिर कोई नई ही बात उठ खड़ी होती।

इस बातचीत में नये पैदा हुए बच्चों की, हाल ही में खरीदे गये बैलों की, मृत बूढ़ों और बुढ़ियों के मृत्युभोज की, नववधुओं के सीमंतो-न्नयन की, किसी की फ़सल के चुराये जाने को, किसी की आपसी मार-पीट की, खेतों में खड़ी फसल की, यों अनेक तरह की बातों और खबरों की चर्चा हो गई। और इसी बीच एक महत्व को बात भी उनकी चर्चा का विषय बन गई। वह थी परताप महतो की लड़की पाली के साथ आशा महतो की सगाई की। 'बड़ी अच्छी जोड़ी है, बहन के घर बहन जाती है !'—कहकर सब ने इस चर्चा का अभिनन्दन किया। लेकिन परताप महतो के मुख्तार-से एक पड़ोसी ने धीमे रहकर यह संशोधन पेश किया कि जमाई महतो को चाहिये कि वह बैल खरीदने के लिए ससुर को दो सौ रुपए दें। उन्होंने यह भी कहा कि पहली बहू के गहने न चलेंगे, पाली के लिए बिलकुल नये गहने बनाने होंगे। वरना जात में कुँवारों की कौन कमी है ? आशा महतो ने सोचा—इस कन्या को

पाने की आशा छोड़ देने में ही भलाई है। बुढ़िया के बाद छः महीने के अन्दर ही बहू चल बसी ; दोनों की उत्तर-क्रिया में काफ़ी खर्च हो गया। साहूकार का ब्याज अलग चढ़ रहा है। तिस पर इतने सारे गहने और रुपए कहाँ से आयेंगे ? हाँ-ना की ज़िम्मेदारी से बचने के लिए उन्होंनें चुप रहने में ही चतुराई समझी। इतने में अन्दर से मौसेरी सास की आवाज़ सुनाई पड़ी।

'उठो, खाना खालो।'

'अच्छा, तो भई अब खालो।'—कहकर ओढ़ी हुई चादरों की धूल झटकते हुए सब कोई उठे। इतने में मौसेरी सास की बुलन्द आवाज़ एक बार फिर गूँज उठी—पाली, ऐ पाली !

जवाब में पाली ने कहा—अरे हाँ, यह आ...ई !

आशा महतो उस आवाज़ की आँवले-सी 'बलभरी' तीव्र मिठास पी रहे।

'जा, अपने जीजा को पैर धोने के लिए पानी दे।'

पाली ने मा की आज्ञा को सिर-माथे चढ़ाया। हाथ में गरम पानी का कलसा लेकर, अपनी साड़ी के अन्दर सिमटी-सी वह बाहर आई और चबूतरे के पास खड़े हुए आशा महतो की तरफ़ हाथ बढ़ाकर बोली—लो !

'यहीं चबूतरे पर रख दो। मैं ज़रा बाहर होकर आता हूँ।'—आशा महतो ने जवाब दिया और वह ज़रा झुककर अपने जूते देखने लगे। उसी समय उन्होंने देखा कि उन पर कहीं से पानी की बूँदें गिर रही हैं। जैसे ही तनकर उन्होंने ऊपर को देखा, सामने मुसकराती हुई पाली ऐसे दिखाई पड़ी, जैसे बादलों में बिजली। उन्होंने धीमे से कहा—बहुत उतावली हुई जा रही हो ; फागुन अभी दूर है।

'नहीं। दूर काहे है ? यह लो देखो !'—कहते हुए पाली ने चुल्लू भर पानी उनके मुँह पर छिड़क दिया। धोती के पल्ले से अपना मुँह

पोंछते हुए आशा महतो ने कहा—भई, अब बस करो ; मुझे मेरे जूते बता दो न !

'जूतों को क्या करोगे ? मेरी जूतियाँ पहन जाओ। कुत्ते घसीट ले गये होंगे।'

आशा महतो बिना कुछ कहे-सुने चुपचाप आँगन से बाहर जाने लगे।

पाली ने बड़ी गम्भीरता से कहा—उधर न जाओ, इधर पिछवाड़ा पास ही है।

महतो उधर मुड़ गये। अभी दो ही चार क़दम गये थे कि उनके मुँह से एकाएक कुछ तीव्र सिसकियाँ निकल गईं। उधर बबूल की एक डाल पड़ी थी। पाली ने जान-बूझकर काँटे चुभाने के इरादे से अपने जीजा को वह रास्ता दिखाया था। इन सिसकियों का आनन्द लूट लेने के बाद, यह ज़रूरी न था कि वह आशा महतो के क्रोध का का प्रसाद चखने वहाँ खड़ी रहती।

हाज़त से निपटकर आशा महतो ने हाथ-मुँह धोया और मौसेरे ससुर के साथ जीमने बैठे। उनकी साली रसोई-घर के अन्दर, कुठली की आड़ में, छिपकर बैठी थी। महतो खाते समय हर चीज़ को जाँच-कर खा रहे थे। लेकिन उनमें कोई घबरानेवाली चीज़ न मिली। इसी बीच एक छोटी-सी घटना घट गई। बैल के खूँटा तुड़ा लेने के कारण परताप महतो खाना छोड़कर बाहर चले गये थे। इतने में पूँछ उठाये म्याऊँ-म्याऊँ करती हुई एक बिल्ली घर में आई। इसी समय कुठली के पीछे से पाली ने धीमे स्वर में कहा—

आशा महतो, वह तुम्हें बुला रही है।

महतो ने ज़रा आतुर होकर पूछा—कौन ?

'यह तुम्हारी...'—अब इससे पहले कि वह अपना वाक्य पूरा करे, मा के हाथ का एक पुरज़ोर घूँसा उसकी पीठ पर पड़ चुका था।

लेकिन यों अपने अपमान का प्रतिकार होते देख आशा महतो को कोई खुशी न हुई। बैल बाँधकर जब परताप महतो वापस आ गये, तो थोड़ी देर में भोजन निर्विघ्न समाप्त हुआ।

भोजन के बाद आँगन में फिर अलाव जला। अब की औरतों ने भी अपना अलग अलाव जलाया था। बहुत-बहुत बातों और गप्पों के अन्त में तापने का यह कार्यक्रम एक अतिवृद्ध बुढ़िया के नीचे लिखे शब्दों के साथ समाप्त हुआ—

'लो चलो, अब सो जाँय। कब तक तापा करेंगी? देना और तापना कभी ख़तम नहीं होता।'

इधर दामाद और ससुर भी उठे और सोने के इरादे से आँगन में बिछी हुई अपनी-अपनी खाट पर जा बैठे। थके-माँदे परताप महतो लेटते ही सो गये। आशा महतो लेटे-लेटे आकाश में छिटके हुए तारों की शोभा निरखने लगे। अचानक उन्हें दस्त की हाज़त मालूम हुई। वह उठे। दरवाज़ा खटखटाया। पानी माँगा। जूतों की तलाश की। जूते अपनी जगह पर ही मिल गये। मौसेरी सास ने एक कलसा उनके हाथ में दिया और दूसरा चबूतरे पर रखते हुए कहा—यह हाथ-पैर धोने के लिए है।

कुछ देर बाद, जब हाथ-पैर धोकर वह खाट पर सोने गये, तो उन्होंने देखा कि उनके ओढ़ने के लिए जो रजाई रखी गई थी, वह खाट पर न थी। उन्होंने रजाई की तलाश करना या माँगना व्यर्थ समझा। वह अलाव के पास गये और उसकी अधबुझी आँच में अपने हाथ-पैर गरम किये। फिर सिरहाने रखे हुए साफे को चादर के अन्दर दुहरा-तिहरा करके ओढ़ लिया और बदन पर पहने हुए कपड़ों के साथ वह खाट पर सो रहे।

और उन्होंने ऊँघना शुरू किया। इनके जैसे किसान आदमी के लिए यों बिना रज़ाई के सोना कोई असाधारण बात न थी। कुछ हो

देर में वह नींद घोरने लगे। मनुष्य का जीवित शरीर अपने नीचे की गुदड़ी को गरमा रहा था। जब जाड़ के कारण ऊपर का हिस्सा बहुत ठण्डा हो जाता, तो वह तुरन्त गरमाई हुई गुदड़ी से गर्मी पाने के लिए नीचे चला जाता और नीचे का गरम हिस्सा ऊपर के ठिठुरे हुए हिस्से को गरमाने के विचार से ऊपर आ जाता। इस प्रकार इच्छा-शक्ति के सक्रिय उपयोग के अभाव में भी शरीर अपनी गरमी के तौल को सँभाले रहने लगा। और इस बीच बेकार पड़ी हुई इच्छा-शक्ति सुपुप्त मनः-प्रदेश की यात्रा के लिए चल पड़ी—

आशा महतो श्मशान में बैठे हैं। आँसू-भरी आँखों से अपनी मृतपत्नी जीवी की चिता को जलते देख रहे हैं। वह खुलकर रो नहीं सकते। उन्हें डर है - लोग मज़ाक उड़ायेंगे और कहेंगे, कैसा नामर्द है ? औरत के नाम को रो रहा है। उनके भाई-बन्द चिता को बाँस से ऊँची-नीची कर रहे थे। उन्होंने सोचा—चिता की वे लपटें उनके मुँह को किस प्रकार तपा रही थीं। चिता की गरमी से घबराकर अधिकांश लोग दूर जा बैठे थे। लेकिन वह स्वयं, यद्यपि आँच के मारे उनका चेहरा सुर्ख हो उठा था, उसके पास, दो हाथ की दूरी पर, बैठे थे। जिसने जीते-जी 'हूँफ' दी थी, उसकी चिता से भी चलते-चलते जितनी गरमी मिले, सब बटोर रखने का उनका इरादा मालूम होता था। और क्या वह स्पृहणीय न था ?

हाँ, वह जीते-जी की 'हूँफ' सजीव 'हूँफ' ! मिट्टी की झोपड़ी में, 'बान'वाली खाट पर, फटी-पुरानी रज़ाई ओढ़कर दो शरीर एक दूसरे की गर्मी से गरम हो रहे हैं। उनमें न प्रेमालाप को स्थान है, न कृत्रिम जीवन के अलाप-विलाप और प्रलाप की गुञ्जाइश है। जीवी की वह सजीव देह आशा महतो को जीवन की समस्त मिठास का आस्वाद कराती रहती है। दोनों के शरीर के अङ्ग-अङ्ग एक मधुर-सी ऊष्मा के केन्द्र बने हुए हैं। सड़े तेल की बदबू से 'सुवासित' जीवी के केश-पाश

से आशा महतो को और तेज़ तम्बाकू की तीव्र 'सुगन्ध' से महकते हुए आशा महतो के मुँह से जीवी को कोई खास कष्ट नहीं होता। दोनो सन्तुष्ट हैं। मगन हैं।

और आशा महतो रोटी बनाती हुई जीवी के सामने चूल्हे के पास तापने बैठे हैं। बैठे-बैठे जलती हुई लकड़ियों को सकोरते रहते हैं। हाथ की चूड़ियों की झनकार के साथ रोटी 'टीपती' हुई पत्नी को और टीपने के ध्यान में सहज ही एक ओर को झुकी हुई गरदनवाले उसके सुकुमार मुँह को अपलक देखा करते हैं। वह देखते हैं—नीचे से उठती हुई तवे की चंचल लपटों के प्रकाश में जीवी का मुख-मण्डल एक लालिमा-युक्त चमक से दमक-सा उठता है। तवे पर सिकनेवाली रोटी की मीठी भाप उनकी नाक को पुलकित कर रही है। और बिना इसका विचार किये कि आशा महतो, जो अपने मन की वृत्तियों का पृथक्करण करना नहीं जानते, जीवी के मुँह की, रोटियों की भाप की, और लपटों को प्रकाश की मीठास में कौन सबसे अधिक मीठी है, तीनों का आस्वाद ले रहे हैं।

और, वह अपने रसमय जीवन की सीढ़ी पर पहला कदम रखते हैं। ब्याहने चले हैं। वे भी जाड़ों के दिन थे। मण्डप में नववधू के पास बैठे हुए छोटे-से (अल्पवयस्क) आशा महतो 'चौंरी'* के धुँए से कष्ट पा रहे हैं ; मगर फिर भी 'चौंरी' की वह अग्नि उन्हें सुख पहुँचा रही है। पुरोहित, अण्ट-सण्ट मंत्र-पाठ कर रहे हैं, और अपने सनातन विनोद से भरे भाव से कहते हैं—भाई, बहन का हाथ पकड़ो ! वह पाणिग्रहण, वधू-पक्ष की औरतों के वे गीत, चौंरी का वह धुआँ, जाड़े की वह रात, और लाल किनारवाली सफेद साड़ी में लिपटी हुई जीवी की वह अचंचल-सी देह ! अपनी बाल-सुलभ चपलता के कारण आशा महतो का दिल होता है कि बहू को चिकोटी काट लें ; लेकिन पिता की

---

* सप्तपदी के समय लग्न-मंडप में प्रज्वलित होम की अग्नि।

मार के डर से वह अपने हाथ की इस खुजली को दबाये रहते हैं।

चिता, चूल्हा और चौरी के इन त्रिविध तापों के पास बैठे आशा महतो ताप रहे हैं ; फिर भी न जाने क्यों, ठण्ड जो है, कम होने का नाम नहीं लेती। उनके अन्दर से रह-रहकर 'जीवी ! जीवी !' की पुकार उठती है। गला रुँधा-सा जाता है। इतने में किसी बुजुर्ग की भर्त्सना-भरी आवाज़ सुनाई पड़ती है—कैसे नामर्द हो तुम ! औरत के लिए रो रहे हो ! कल दूसरी औरत आ जायगी।' और, जब वह चिता से चुनकर अस्थियाँ सिराने गये, तो चिता की भस्म से प्रकट होती, उन्हें एक मुस्कराती इठलाती बाला के, जो हाथ में पीतल का कलसा लिये थी, दर्शन हुए। वह उनकी खाट के पास खड़ी है और हाथ बढ़ाकर कहती है—'लो, यह पानी।' वह पानी के लिए अपना हाथ बढ़ाते हैं ; लेकिन हाथ कलसे तक पहुँचता ही नहीं। 'लो, पानी ! लो पानी !' कहती हुई वह मूर्ति पीछे हटती जाती है, और महतो खटिया छोड़कर उसके पीछे चलने लगते हैं। और इतने ही में उस मुसकराती-इठलाती बाला के बदले एकाएक एक मोटे साफेवाला भीमाकार मर्द उनके सामने आकर खड़ा हो जाता है और उन्हें ललकारकर कहता है—लाओ, दो सौ रुपए ; नहीं, अभी कत्ल कर डालूँगा। और वह अपने कन्धे पर पड़े हुए 'धारिये' * को सँभालता है। और जैसे ही वह प्रहार करने को झपटता है, धारिये की धार के स्थान पर उनका मुँह चुल्लू भर पानी की धार से तर हो उठता है। इसी समय उनकी देह भयंकर शीत का अनुभव करती है। नींद ही नींद में वह ऐंठ जाते हैं और करवट बदलकर सोते हैं। फिर एकाएक सपने से चौंककर जाग उठते हैं और कहते हैं—कैसे वाहियात सपने आते हैं।

महतो फिर सो जाते हैं। स्वप्न फिर शुरू होते हैं। अब सारे स्वप्न

* गुजरात के किसानों के पास रहनेवाला फरसानुमा एक हथियार।

शीत ही शीत के आते हैं। कण्ठ बार-बार रुँध जाता है। शरीर एंठने लगता है। उस साल ओले खूब गिरे थे और उनके एक चचा खेत की रखवाली करते हुए ठण्ड से ठिठुरकर मर गये थे। वे सदेह वापस आते हैं। आशा महतो कहते हैं—ठहरो, काका! मैं अभी आया। और वे बर्फ की चादर ओढ़ने की तैयारी करते हैं; इतने में हलके-हलके कोई गरम-सी चीज़ उनके शरीर को स्पर्श करती प्रतीत होती है। धीरे-धीरे उनकी पीठ से लगकर कोई चीज़ सोती है; वे उसकी 'हूँफ' का अनुभव करते हैं। और स्वप्न में पुकार उठते हैं—तुम आई! मैं कब का ठण्ड से ठिठुर रहा हूँ—लेकिन वह जवाब नहीं देती। महतो में करवट बदलने की हिम्मत नहीं है। उन्हें डर है कि कहीं वह गरमानेवाली मूर्ति भाग न जाय। लेकिन वह है कौन? उन्हें उस सोई हुई मूर्त्ति का मुँह कभी जीवी-सा प्रतीत होता है; कभी पाली-सा। महतो फिर गुनगुनाते हैं। अरे अपना मुँह तो देखने दो—लेकिन वह लजीली मूर्त्ति मुँह दिखाती ही नहीं। वह उसे धमकाते हैं और कहते हैं—अच्छा, सुबह समझ लूँगा।—महतो फिर स्वप्न लोक में डूब जाते हैं, और उनकी देह से लगी हुई वह देह, बिना हिले-डुले उन्हें गरमी पहुँचाती रहती है।

सुबह भिनसारे ही उठकर परताप महतो खेत पर चले गये। सास घर के काम-धन्धे में लग गई। पाली चबूतरे पर बैठी दतौन कर रही थी। दतौन करते-करते अपने जीजा की खाट पर सिमटकर पड़ी हुई एक छोटी-सी लाल चीज़ की ओर उसका ध्यान गया, और उसे आश्चर्य हुआ। वह दबे पैरों खाट के पास आई और उस सिमटी हुई चीज़ को निकट से देखकर गुपचुप बाहर निकल गई। जाकर मुहल्ले के लड़कों को बटोर लाई। बोली—चलो, तुम्हें एक तमाशा दिखाऊँ? और वह अपने दल को लेकर आशा महतो की खाट के पास आ खड़ी हुई। उस सिमटी-सिकुड़ी लाल-लाल चीज़ को देखते ही सब-के-सब ठठाकर

हँस पड़े, और उस हँसी का ज़ोर बादल की गर्जना की तरह प्रतिक्षण बढ़ता ही गया। अन्त में एक लड़के ने जलते हुए अलाव में से एक दहकती हुई लकड़ी उठाई और ज्यों ही उससे वह उस लाल चीज़ को दागने चला, सब के सब फिर एक बार ठहाका मारकर हँस पड़े। बरबस आशा महतो की नींद खुल गई। उनके चेहरे पर घबराहट के चिह्न प्रकट थे।

उन्होंने देखा, उनकी बगल में एक लाल कुतिया लुककर सोई है। उन्हें हक्का-बक्का-सा पाकर लड़के और भी हँसने लगे। कुतिया तनिक हिली। इतने में उसी लड़के ने एकाएक पुकारा—लाली, तू-तू।

लाली लेटी-लेटी अपनी टेढ़ी पूँछ हिलाने लगी; कभी वह तू-तू कहकर पुकारनेवाले की ओर देखती थी और कभी आशा महतो की ओर। इतने में पाली ने पूछा—आशा महतो, रात किसे लेकर सोये थे ?

कोलाहल बढ़ रहा था, हँसी के फव्वारे छूट रहे थे; मगर कुतिया थी कि खाट छोड़ने का नाम न लेती थी। किसी ने कहा—महतो, देखते क्या हो ? मारो न एक लात इसे ! अभी भागती है।

इस पर पाली ने कहा—वाह-वाह, यह क्या कहते हो ? वह उसे क्योंकर मारेंगे। रात उससे शादी जो की है !

आशा महतो ने आँखें तरेरकर पाली की ओर देखा, कड़ी निगाह से देखा। फिर जो रोष उन्हें पाली पर चढ़ा था, उसका बदला लेने के लिए उन्होंने बैठे-ही-बैठे लाली को एक लात मारी। कुतिया हाऊ-हाऊ, चौं-चूँ, करती हुई भाग खड़ी हुई। पूँछ दबाकर भागती हुई उस कुतिया की ओर वह दयार्द्र दृष्टि से देखते रहे। उस समय उनके चेहरे पर एक अवर्णनीय तिरस्कार-सा छा रहा था। उन्होंने उसी हालत में अपने शरीर को चादर से ढँक लिया। फिर दूर पर खड़ी कुतिया की ओर और हँसते हुए बालकों के दल में स्थित पाली

की ओर वे एकटक देखा किये। उनकी उस दृष्टि में देखनेवाले को एक ही भाव की प्रतीति हो सकती थी, यद्यपि उस भाव का अनुभव करने वाला स्वयं इतना विदग्ध न था कि उसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर सके। लेकिन वह भाव इस प्रकार था—उनकी वह मूक दृष्टि कहती थी—भई, तुम जितना चाहो, हँसो ; पेट-भर के हँस लोगे। लेकिन यह तो कहो कि मनुष्यों से इतनी भी 'हूँफ' किसे मिलती है ? कब मिलती है ?

शोभनकुमार

शुक्लतीर्थ से कुछ दूर ऊपर की तरफ, नर्मदा के ऊँचे कगार पर, एक बँगला था। बँगले के पीछे, कुछ दूर पर एक धर्मशाला थी। और, पास ही के एक एकान्त स्थान में, पेड़ों की झुरमुट के अन्दर, एक झोंपड़ी था।

सुलेखा ने कहा—अब पानी न बरसेगा। चलो, हम आँगन में चलकर बैठें। और वह नौकरों से आँगन में कुर्सियाँ रखने को कही रही थी कि इतने में शोभनकुमार के और उनके साथ के दूसरे मित्र

अपनी-अपनी कुर्सियाँ उठाकर आँगन में आ डटे।

अपनी कुर्सी को नीचे रखते हुए बातचीत के प्रवाह में शोभनकुमार ने कहा – सो मिस्टर गणेश, मैं आपसे यह कहूँगा कि स्त्रियों के बारे में हमारे पूर्वजों ने जो कुछ कहा है, ठीक ही कहा है। जब कभी मैं आपके गान्धी की नुक्ताचीनी करता हूँ, तो हमेशा ही आपकी यह शिकायत रहती है कि मैं गान्धी के विचारों को बीच ही से तोड़-मरोड़कर पेश करता और उन पर बरस पड़ता हूँ। इसके जवाब में मुझे भी आपसे यही कहना है कि आप लोग भी इसी तरह अपने पूर्वजों के स्त्री-विषयक विचारों को उनके संदर्भ से तोड़-मरोड़कर चुन लेते हैं और उनमें मीन-मेख निकालना शुरू कर देते हैं!

शोभनकुमार कुर्सी के पीछे खड़े-खड़े इस तरह बातें कर रहे थे, मानो उसे पीछे से पकड़कर ज़ोर से फेंकना चाहते हों। गणेशलाल कुर्सी पर बैठा चाहते थे, लेकिन शोभनकुमार की बातों में वह कुछ ऐसे उलझ गये कि कुर्सी के सामने खड़े-खड़े उन्हें सुना किये।

सुलेखा ने कहा—दद्दा, स्त्रियों को लेकर यह जो वाग्युद्ध छिड़ा है, इसमें ये कुर्सियाँ हथियार तो नहीं बनेंगी! मुझे डर है, कहीं यहाँ सूरत-कांग्रेस की एक छोटी-सी पुनरावृत्ति न हो जाय!

इस पर शोभनकुमार हँस दिये और कुर्सी पर आ बैठे। इनके साथ मि० गणेशलाल भी बैठे।

'तो क्या आप इस बात का समर्थन करना चाहते हैं कि नारी नरक की खान है? क्या आप 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' को मानते हैं?'

इसके जवाब में शोभनकुमार कुछ कहा चाहते थे; मगर गणेशलाल ने उधर ध्यान न दिया। वह कहते चले—मालूम होता है, यूरोप में बारह साल रहकर आपने यही सीखा है! लेकिन आप तो व्यापारी हैं; आप यूरोप की सच्ची संस्कृति को क्या जानें? आप वहाँ ज्ञानोपार्जन के लिए तो गये नहीं थे। गये थे पैसा, कमाने...

गणेशलाल यों धारा-प्रवाह बोलते चले जा रहे थे कि इतने में शोभनकुमार ठहाका मारकर हँस पड़े। उन्हें हँसते देख आस-पास के दूसरे लोग भी हँसने लगे। और हंसी के इस प्रवाह में बहकर खुद गणेशलाल भी हँसने लगे।

शोभनकुमार की उम्र अभी चालीस के क़रीब थी। विधुर होने के बाद वह यूरोप चले गये थे और वहीं अपनी पेढ़ी में काम करते थे। इधर उनका इरादा व्यापार से निवृत्त होने का था; अतः वह इस सोच में थे कि आगे का जीवन किस प्रकार सार्थक किया जाय। वह खुद तो व्यापारिक क्षेत्र से हट जाना चाहते थे, लेकिन उस क्षेत्र के उनके पुराने साथी इस मामले में उनसे सहमत न होते थे; वे उनके इस विचार को एक कल्पनामात्र समझते थे। सुबह-शाम दोनो समय वे उनके पास आते थे और धर्म की, हठयोगियों की, एवं महात्माओं की बात छेड़कर अन्त में व्यापारी दुनिया की बातों पर आ जाते थे। कोई अपने लिए किसी नये धन्धे की योजना बनाना चाहता, किसी को लाख दो लाख के क़र्ज़ की ज़रूरत होती, और किसी को आई हुई मुसीबत से गला छुड़ाने के लिए सलाह की ज़रूरत रहती। शोभनकुमार को इन सारी बातों से बहुत ही चिढ़ थी, लेकिन बेचारे आदत से लाचार थे और सब की बातें हँसते-हँसते सुन लिया करते थे। लेकिन ऐसे लोगों को अपने बीच से भगाने की एक अच्छी सी तरकीब उन्होंने सोच निकाली थी। वह सुबह-शाम अपने परिचितों में से कुछ ऐसे नवयुवकों को अपने यहाँ बुला लिया करते, जिन्हें सार्वजनिक जीवन से, शिक्षा से, अथवा ज्ञान के विविध विषयों से ख़ास मुहब्बत होती थी। फिर, ज्यों ही व्यापारी मित्रों की मण्डली आकर उनके यहाँ डटती, वह अपने इन नौजवान मित्रों के साथ कोई ऐसी चर्चा छेड़ देते कि उन बेचारों का जी ऊबने लगता। नतीजा यह होता कि इन चर्चाओं में डूबे हुए शोभनकुमार की बातों पर वे बिना समझे ही हँस दिया करते, और

कुछ देर राह देखकर निराश लौट जाते। शोभनकुमार भी उन्हें हँसते-हँसते बिदा देते। आज इस एकान्त स्थान में भी ये व्यापारी मित्र आ पहुँचे थे। कुछ देर तो वे स्त्रियों सम्बन्धी इस चर्चा को सुनते रहे, फिर अपनी दाल गलती न देखकर शोभनकुमार के पक्ष में हँसते हुए उठ खड़े हुए और आस-पास के स्थान देखने को बिदा हो गये।

अब सिर्फ शोभनकुमार, गणेशलाल और सुलेखा ही वहाँ रह गये। गणेशलाल पचीस से तीस के बीच का नवयुवक था। एल० एल० बी० पास, और अविवाहित। वकालत शुरू कर चुका था; फिर भी इतना साहसी था कि खादी पहनता था। मि० गणेशलाल गांधी जी के सभी विचारों से सहमत थे; किन्तु जिन विचारों को वह कार्य-रूप में परिणत न कर सकते, उन्हीं का विशेष आग्रह रखते, और अन्त में अपनी कमज़ोरी को, कौटुम्बिक परिस्थिति को और ऐसे ही दूसरी बातों को दोष देकर किसी तरह अपना और दूसरों का मन समझा लेते थे। जिस तरह कुछ लोग जात-पाँत में मानकर, कुछ अपने सम्प्रदाय के अटूट भक्त बनकर, कुछ सुधारक विचार के सुशिक्षितों से अपने को भिन्न व्यक्त करने के लिए अपनी श्रीमतीजी को पुरानी मर्यादाओं का पालन करने का उपदेश देकर, अपनी वकालत चमका सकते हैं, उसी तरह कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो खादी पहनकर गांधीवादी बनकर, गांधी जी द्वारा निर्दिष्ट सुधारों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करके, सफल वकील बन सकते हैं। शास्त्रों में भले ही धर्म और मोक्ष परम पुरुषार्थ माने गये हों; व्यवहार में तो अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ साबित हो रहे हैं। इसका यह मतलब नहीं कि लोगों में धर्म और मोक्ष की भावना का अभाव है; बल्कि मतलब यह है कि आज धर्म और मोक्ष अर्थ और काम के साधन बने हुए हैं। इससे सिद्ध है कि चार्वाक मत का प्रवर्तक आचार्य कितना दूरन्देश रहा होगा!

उम्र के लिहाज़ से मि० गणेशलाल की वक़ालत काफ़ी चमक

चुकी थी। चूँकि उनकी जाति में कन्याओं की कमी थी, और उनका कुल भी कुछ हलका माना जाता था, उन्हें अब तक कोई लड़की मिली न थी। मगर वह स्वयं अपने कुँवारेपन के बचाव में ये दलीलें नहीं देते थे। उनके विचार में उनका इतनी बड़ी उम्र तक अविवाहित रहना, उनकी बढ़ी-चढ़ी सभ्यता और सुधार-प्रियता का चिह्न था। इस समय उनकी आर्थिक स्थिति भी इतनी सम्पन्न थी कि अवसर पाकर वह किसी विधवा के साथ भी अपना ब्याह कर सकते थे। लेकिन तरजीह वह किसी कुमारिका को ही देना चाहते, बशर्ते कि कोई राज़ी हो जाय! वह अक़सर कहा करते—ये कम्बख़्त सुधारक जात-परस्तों से भी ज़्यादा तंगदिल होते हैं। ये न सिर्फ़ अपनी जात के लोगों को ही बेटियाँ देते हैं, बल्कि जातवालों में भी 'इंग्लैण्ड रिटर्न्ड' को ज़्यादा पसन्द करते हैं। और फिर मुसकिरा देते। गणेश-लाल स्त्रियों का बड़ा आदर करते थे। जैसा कि प्रायः सभी कुँवारे किया करते हैं।

स्त्रियों के सम्बन्ध में शोभनकुमार के ऐसे विचार सुनकर मि० गणेशलाल को सचमुच ही बड़ा आश्चर्य होता था। और लोगों के चले जाने पर जब उन्हें काफ़ी एकान्त मिला, तो वह अपनी बात ज़्यादा आज़ादी के साथ कहने लगे। गणेशलाल का शोभनकुमार के साथ क़ाफी अच्छा सम्बन्ध था। शोभनकुमार गणेशलाल की विद्वत्ता और सच्चरित्रता का सम्मान करते थे। यही नहीं; बल्कि उन्हें वह अपना छोटा भाई ही समझते थे।

शोभनकुमार ने कहा—सच कहते हो, भैया! तुम्हारी तरह मैं ग्रेजुएट नहीं हूँ। तुम्हारी तरह अंग्रेज़ी और संस्कृत का उच्च अध्ययन भी मैंने नहीं किया है। संस्कृत का तो मैं एक अक्षर भी नहीं जानता। फिर भी बारह बरस तक यूरोप में रहकर मैंने जो कुछ देखा-सुना और सोचा-समझा है, उसके आधार पर मैं यह कहता हूँ कि हिन्दुस्तान को

पुरानी बातें सच हैं।

गणेशलाल ने ज़रा रूखे स्वर में चिढ़कर कहा—सच है ! क्या सच है ! जिस अर्थ में गांधीजी चाहते हैं, उस अर्थ में वर्ण-व्यवस्था सच्ची हो सकती है। लेकिन वैसी वर्ण-व्यवस्था किसी दिन थी भी ? मैं पूछता हूँ, क्या आप स्त्रियों-सम्बन्धी गांधीजी के विचारों से परिचित हैं ! मैं तो समझता हूँ कि शायद यूरोप में भी विरले ही लोग ऐसे होंगे, जो इस विषय में इसके से उग्र और अग्रगामी विचार रखते हों। और आप यूरोप में...।

शोभनकुमार को गणेशलाल का बात-बात में गांधीजी को घसीटना, उनका हवाला देना, अच्छा न लगा। उन्होंने कहा—मि० गणेश, मैं जानता हूँ, आप गांधीजी की बहुत इज्जत करते हैं। इस सम्बन्ध में मेरी जो राय है, उससे भी आप परिचत हैं। मैं यह मानता हूँ कि गान्धी के अन्दर किसी भी विषय का व्यवस्थित विचार करने की क्षमता नहीं है। मेरा यह भी ख्याल है कि ज्ञान की दृष्टि से वह बहुत ही दरिद्र हैं; उनमें अनुभव से सीखने का थोड़ा भी माद्दा नहीं है। जो आदमी सत्य और अहिंसा-द्वारा हिन्दुस्तान को स्वराज्य दिलाने की बात करता है उस आदमी को माननेवालों की संख्या इस देश में इतनी ज़्यादा है, मेरे लिए तो यही एक बड़े आश्चर्य की बात है। सत्य और अहिंसा को मैं भी मानता हूँ। स्वराज्य में मुझे भी विश्वास है। शायद आपको पता न हो, मगर मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि यूरोप में रहकर मैंने जितना कुछ कमाया है, उसका तीन-चौथाई हिस्सा उन लोगों में बाँटा है, जो हिन्दुस्तान से अंग्रेजी हुकूमत को उखेड़ना चाहते हैं। हालाँकि तिलक-स्वराज्य-फण्ड के लिए एक कानी कौड़ी भी न देकर मैंने आपको नाराज़ ज़रूर किया है। लेकिन अब न मुझे स्वराज्य के आन्दोलन में कोई दिलचस्पी रही है, न आपके गांधी की रीति-नीति में मेरा विश्वास ही है। मैं मानता

हूँ कि वह एक भले आदमी हैं—सज्जन हैं। लेकिन हम यहाँ गांधी की चर्चा नहीं कर रहे हैं। इसलिए मेहरबानी होगी अगर आप इसमें कहीं गांधी का जिक्र न करें। मैं चाहता यह हूँ कि हम-आप स्त्रियों के प्रति पुरुषों के रुख की चर्चा अपने ढंग से करें। और इस पर मेरा कहना यह है कि हमारे प्राचीन विचारकों ने स्त्रियों के प्रति जिस मनोवृत्ति को विकसित किया है, वह ठीक ही है।

यह सुनते ही सुलेखा का चेहरा तमतमा उठा—भाभी के मरने के बाद दद्दा को सभी स्त्रियाँ बुरी लगने लगी हैं। इन्हें स्त्री मात्र से घृणा हो गई है। स्त्रियों से यह द्वेष रखने लगे हैं। मैं कहती हूँ, मि० गणेशलाल, आप क्यों इनसे इस विषय की चर्चा करते हैं?

शोभनकुमार फिर से ठठाकर हँस पड़े। गणेशलाल को शोभनकुमार का यह अट्टहास बहुत ही अजीब-सा मालूम हुआ।

कुछ गोपनीय-सा कहने के ढंग से गणेशलाल ने कहा—शोभन भैया, गुस्ताखी माफ हो! एक बात कहना चाहता हूँ। सुलेखा बहन, आप ज़रा अन्दर जा सकेंगी?

शोभनकुमार ने हँसते-हँसते कहा—कहो, कहो, मि० गणेश! मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो हर बात में स्त्रियों का मन रखना चाहते हैं। क्यों सच है न सुलेखा?

सुलेखा ने कहा—सच क्यों नहीं है! सच न होता, तो तुम मेरे मुँह-दर-मुँह, मुझे पुनर्विवाह की सलाह क्यों देते?

सुलेखा की उम्र कोई २५-२६ के क़रीब मालूम होती थी। कोई चौदह वर्ष की अवस्था में वह विधवा हो गई। तब से वह अपने भाई के पास ही रहती थी। उसके वैधव्य के एकाध साल बाद ही शोभनकुमार विधुर हो गये। बहन ने अपनी सुमित्रा नाम की एक सखी के साथ भाई का दूसरा ब्याह करने की बहुत-कुछ कोशिश की थी। मगर शोभनकुमार ने अपने स्वभावानुसार बहन के हर प्रस्ताव का हँसते-हँसते

सदा एक ही जवाब दिया—बहन, तुम मुझसे छोटी हो। जब तक तुम अपना पुनर्विवाह नहीं करतीं, मैं अपने विवाह का विचार ही क्योंकर कर सकता हूँ ?—भाई के इन शब्दों ने उस समय सुलेखा को भारी आघात पहुँचाया था ; लेकिन अपने भाई की सज्जनता से भलीभाँति परिचित होने के कारण वह अपने रोष को अधिक समय तक टिका न सकी। इसके बाद तो वह भाई के साथ एक-दो बार यूरोप भी हो आई हैं।

सुलेखा के इस उलहने से शोभनकुमार को कोई दुःख तो न हुआ, मगर वह कुछ देर के लिए गम्भीर ज़रूर बन गये। भाई का वह गंभीर मुँह देखते ही सुलेखा ने सोचा—ऊपर से हँसमुख, मगर अन्दर दुःख की ज्वाला से सदा झुलसनेवाले इस भाई को यों सताना मुझे शोभा नहीं देता।

शोभनकुमार ने अपने मुँह की रेखाओं को शिथिल करते-करते कहा—मि० गणेशलाल, आप चाय पीयेंगे न ? व्यापारी मित्रों के साथ बैठकर चाय पीने को कभी दिल ही नहीं होता ; इसीलिए अब तक मैंने चाय नहीं मँगाई। सुलेखा, ज़रा देखो, चाय का क्या प्रबन्ध है। मेरे लिए कम-से-कम तीन कप तैयार कराना।

सुलेखा अन्दर गई।

इस एकान्त से लाभ उठाकर गणेशलाल ने अपने दिल की बात शोभनकुमार के सामने इस तरह रखी—शोभन भैया, क्या आप नहीं समझते कि यूरोप में जिस तरह का जीवन आपने बिताया है, आपके ये विचार उसी के परिणाम हैं ? जिन दिनों मैं कॉलेज में था और आप एक बार हिन्दुस्तान आये थे, तब जिस तरह की बातें आपने कही थीं, उनसे मैं उस समय बहुत आकर्षित हुआ था। लेकिन इधर गांधीजी के विचारों का मनन करने के बाद, अब सोचता हूँ, तो ऐसा प्रतीत होता है कि यूरोप में आपने जिस तरह का शिथिल जीवन बिताया है,

उसी के कारण आपके ये विपरीत विचार बने हैं।

गणेशलाल कहने को तो यह सब कह गये; लेकिन बाद में उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि न कहा होता, तो अच्छा था !

'मि० गणेशलाल, आप मुझसे ज़्यादा विद्वान् हैं। मैं व्यापारी ठहरा। आपका ख़याल सच हो सकता है। लेकिन मैं पूछता हूँ, आख़िर आपने मेरे जीवन की कैसी कल्पना कर रखी है ? हाँ, मैं मांस खाता था। मैंने आपको भी मांस खाने की सलाह दी थी। मेरा अब भी यह विश्वास है कि जिन्हें स्वराज्य लेना है, स्वराज्य से प्रेम है—उन्हें मांस खाना चाहिये। मैंने अब मांस खाना छोड़ दिया है। क्योंकि अब मुझे व्यवहार की, दुनियादारी की, किसी बात में कोई दिलचस्पी नहीं रही। स्वराज्य को मैं एक व्यावहारिक वस्तु समझता हूँ। स्वराज्य से अध्यात्म और धर्म का सम्बन्ध जोड़कर गांधी ने देश के रंगरूट नौ-जवानों के अन्दर बुद्धि-भेद पैदा कर दिया है। लेकिन आपका शायद यह ख़याल हो सकता है कि चूँकि मैं मांस खाता रहा हूँ, इसलिए सात्त्विक मनोवृत्ति से वंचित हूँ, और इसी कारण आपके गांधी के विचारों को समझ नहीं सकता हूँ।'

कहकर शोभनकुमार हँसने लगे।

'शोभन भैया, माफ कीजिये। मांस की बात ठीक है, लेकिन मैं उसका ज़िक्र नहीं कर रहा हूँ। हमारे गाँव के जो मित्र पेरिस और बेल्जियम में रहते हैं, उन्होंने वहाँ की स्त्रियों के साथ आपके व्यवहार की जैसी ख़बरें दी हैं, उन पर से मैंने ऊपर का इशारा किया है। मेरा अपना यह विचार है कि आपकी वर्तमान मनोदशा अतिभोग का ही एक परिणाम है।'—गणेशलाल ने यह अप्रिय सत्य इस ढंग से कहा, मानो इसके कहने में उन्हें बहुत दुःख हो रहा हो !

'ओह् हो ! यह बात है ? पता नहीं, यह ख़याल कब से आपके दिल में बसा हुआ है। ठीक है। आप जो कहते हैं, वह सच भी हो

सकता है...लेकिन मैं आपसे एक बात कहना चाहता हूँ और वह यह है कि इन पिछले बारह-तेरह वर्षों में मैंने स्त्री के जीवित शरीर को कभी स्पर्श तक नहीं किया है। अपनी पत्नी के शव को चिता पर सुलाते समय अपने सब साथियों के सामने, खुले तौर पर मैंने अन्तिम बार उसके कपोल को चूमा था—आज इस पर सोचता हूँ, तो अपनी मूर्खता पर खुद हँसता हूँ; मगर उस समय क्या बात थी, मैं नहीं कह सकता। वह घड़ी और आज का दिन—इस दरमियान मुझे नहीं याद पड़ता कि कभी किसी स्त्री को छूने का विचार तक मेरे मन में पैदा हुआ हो। कृपया इसका यह मतलब न कीजिये कि मैं अपने को जितेन्द्रिय समझता हूँ, अथवा काम-वासना का मुझमें नितान्त अभाव है। इसमें कोई शक नहीं कि यहाँ भी और यूरोप में भी, अपनी अमीरी और खर्चीली आदतों के कारण मैं सुन्दर से सुन्दर स्त्रियों के सम्पर्क में आया हूँ? उन्हें देखकर शुरू-शुरू में मैं उनकी ओर आकर्षित भी होता था। मैं 'सन्त' होने का दावा नहीं करता। स्त्रियों के सौंदर्य से मैं भी आकर्षित होता हूँ। लेकिन भूला; गान्धी के अनुयायी से मैं यह सब क्या कह रहा हूँ! भला आप कैसे इस बात को मान सकते हैं कि मेरे जैसा स्त्री-सौन्दर्य का उपासक और उससे आकर्षित होनेवाला मनुष्य, स्त्री के काम-जन्य स्पर्श से सदा अछूता रहा हो?'

'लेकिन यह कोई मेरा अपना ख़याल नहीं है। आपके सभी यूरोपीय मनोवैज्ञानिक और काम-शास्त्र के विद्वान् इसी बात को कह रहे हैं। कदाचित् आप फ्राइड् के मत से तो परिचित होंगे ही? उसने तो मनुष्य की सभी भावनाओं को काम-जन्म कहा है।' गणेशलाल ने यह सब इस ढंग से कहा, मानो अपनी विद्वत्ता से शोभनकुमार को प्रभावित किया चाहते हों!

शोभनकुमार फिर से ठठाकर हँसने लगे गणेशलाल ने इस हास्य में अपनी हार ही देखी।

'ओह्, हो ! तो आपने फ्रॉइड वग़ैरह को पढ़ा है ?...मैं आपकी बराबरी का विद्वान् तो नहीं हूँ ; फिर भी अपने व्यापार के सिलसिले में मुझे फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाएँ सीखनी पड़ी हैं, वहाँ व्यापार का काम हमें दिन में दो-तीन घण्टे से ज़्यादा नहीं रहता ; इसलिए बचा हुआ समय पढ़ने में अथवा तथाकथित सुन्दरियों के सहवास में ही बिताना पड़ता है। मैंने फ्रॉइड आदि के मूल ग्रन्थों को पढ़ा है। अँग्रेज़ी पर मेरा विशेष प्रभुत्व नहीं है ; लेकिन मैंने वहाँ के कई लेखकों को यह शिकायत करते सुना है कि अँग्रजी में कॉन्टीनेण्ट के लेखकों की रचनाओं का कचूमर-सा निकल जाता है। ख़ैर, यह जो कुछ भी हो ! लेकिन मेरा अपना यह ख़याल है कि ये सब जो लेखक हैं, इनमें परमार्थ की कोई दृष्टि नहीं। तो ख़ैर; इनकी चर्चा भी छोड़िये !...अरे, लेकिन सुलेखा को चाय लाने में इतनी देर क्यों हुई ? मालूम होता है, कोई मिलने आ गया है !'

शोभनकुमार की इस साफगोई से और उनके इन विचित्र विचारों से गणेशलाल को थोड़ा अचम्भा-सा हुआ। गुजरात में जो दो-चार इने-गिने लेखक पूर्व और पश्चिम की संस्कृति के विद्वान् माने जाते हैं, उनके ढंग पर पूर्व और पश्चिम की अच्छी-अच्छी बातों को एकत्र करके गणेशलाल ने अपने मन मे जिस आदर्श संस्कृति की कल्पना कर रखी थी, वह सारी कल्पना उन्हें इस मनुष्य की, जो अपने को अनपढ़ कहता है, सहज सरल-निष्कपट, बातों से, चूर-चूर होती हुई दिखाई दी। उनकी समझ में नहीं आया कि 'तथाकथित सुन्दर स्त्रियों' से शोभनकुमार का क्या आशय था। वह इस प्रयोग का अर्थ समझने को उत्सुक हो उठे।

गणेशलाल ने पूछा – शोभन भाई, और तो सब ठीक है ; मगर मेरी समझ में नहीं आता कि 'तथाकथित सुन्दर स्त्रियों' से आपका आशय क्या है ? मेरे ख़याल में आप शायद उन स्त्रियों की बात कर

रहे हैं, जो पाउडर आदि कृत्रिम उपायों से अपने-आपको सुन्दर समझने का यत्न करती हैं ?

शोभनकुमार ने मुसकराते हुए कहा—आखिर आप जैसे खादी-भक्तों को भी सुन्दर स्त्रियों के बारे में कुछ जानने-सुनने की इच्छा होती है न ? मैं तो इसे एक शुभ चिह्न ही समझता हूँ। चूँकि आप लोगों में अब भी इतनी मनुष्यता बाकी है कि आप सुन्दर स्त्रियों में दिलचस्पी रख सकते हैं, इससे मुझे उम्मीद होती है कि आप लोग कुछ ही समय के अन्दर वर्तमान राजनीति के पचड़ों से मुक्त हो सकेंगे। रूपसी सुन्दरियों के सम्बन्ध के मेरे विचार और अनुभव आपको अजीब-से मालूम होंगे फिर भी यूरोप की स्त्रियों के साथ अन्याय न करने के हेतु से मैं पहले ही यह साफ़ कह देना चाहता हूँ कि सुन्दर स्त्री की मेरी कल्पना का पाउडर वगैरह के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।...अजी, लेकिन चाय अभी तक क्यों नहीं आई ?

शोभनकुमार ने बहन शब्द पर ज़ोर देते हुए सुलेखा को पुकारा—सुलेखा ब...ह.. न...!

बहन हँसती हुई बाहर आई, और चाय के जल्दी ही आने का आश्वासन देकर तथा यह कहकर कि वह खुद अपनी सखी सुमित्रा के साथ अन्दर ही चाय पीयेंगी, वापस लौट गई।

अब गणेशलाल के लिए यह एक टेढ़ा सवाल था कि वह भाई-बहन के इस सरल व्यवहार का शोभनकुमार के स्त्रियों सम्बन्धी विलक्षण विचारों के साथ कैसे मेल बैठाये ?

बारिश का मौसिम। दिन ढल रहा था। पानी बरस चुका था, फिर भी बाहर बैठे हुओं को बादलों की छाया का लाभ मिल रहा था ; और आस-पास की घास पर टिकी हुई पानी की बूँदें सूर्य के प्रकाश में अबाध रूप से रङ्ग-बिरङ्गी शोभा धारण कर रही थीं।

इतने में चाय आ गई। बीचवाली मेज़ पर 'टी सेट्स' सजा

कर रखे गये। शोभनकुमार विचारों में डूबे हुए थे ; आँखें घास पर टिकी हुई बूँदों की छटा निहार रही थीं, और हाथ चाय तैयार कर रहे थे। चाय का एक कप गणेशलाल की तरफ बढ़ाते हुए शोभन कुमार ने कहा लीजिये, चाय पीते-पीते स्त्री सौंदर्य की चर्चा करना ज़्यादा अच्छा होगा।

गणेशलाल ने हँसते हुए कहा—अच्छी बात है ; आप अपनी सौंदर्य-मीमांसा शुरू कीजिये।'

शोभनकुमार ने सहज आपत्ति के स्वर में कहा क्षमा कीजिये ; ऐसे कठिन शब्दों को भला मैं क्या जानूँ ! हाँ अपने गुरु की कृपा से समझ सब कुछ लेता हूँ। आपको शायद पता न हो ; मगर मैं कहता हूँ कि गुरु से भेंट होने के पहले मैं बहुत ही मुश्किल से गुजराती में बातचीत कर पाता था।

गणेशलाल ने चाय का प्याला मेज़ पर रखा और बोले—आपके गुरु वुरु में मुझे ज़रा भी श्रद्धा नहीं। मैं तो आपके अनुभव सुनना चाहता हूँ।' और प्याला उठाकर वह फिर चाय पीने लगे।

शोभनकुमार ने एक कप खाली किया, दूसरा कप भरा और आग्रह-पूर्वक गणेशलाल से कहा—थोड़ी और लीजिये। मगर उन्होंने इनकार कर दिया।

'अच्छा मि० गणेशलाल, ज़रा मेरी भी सुनिये। जो श्रद्धा आपको गांधी पर है, वही मुझे अपने गुरु पर है। लेकिन ख़ैर, इसे भी जाने दीजिये। पहले यह बताइये कि आप सुन्दर चेहरा किसे कहेंगे ?'—अपने विषद, किन्तु शब्दों द्वारा कठिनाई से व्यक्त होनेवाले अनुभव को मुखर बनाने का यत्न करते हुए शोभनकुमार ने पूछा।

गणेशलाल ने कहा—इसके बारे में मुझे कोई नई बात नहीं कहनी है। चेहरा सुन्दर हो या कुरूप हो, स्त्री का हो या पुरुष का हो, इसको पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती—वह तो एक सिद्ध-सी बात है।

'आपकी यह बात सच है। सौन्दर्य का ठेका अकेली स्त्रियों ने ही नहीं ले रखा है। लेकिन क्या कभी आपने यह अनुभव नहीं किया कि किसी स्त्री के मुख को पहली बार देखकर आप उसकी ओर आकर्षित हुए हों, और जैसे जैसे उसकी ओर अधिक देखते गये हों, वैसे-वैसे उसे देखकर मन में जुगुप्सा पैदा हुई हो? मेरा अपना तो क़रीब-क़रीब यही अनुभव है; और इसीलिए अपने पूर्वजों की इस राय से मैं सहमत हूँ और कहता हूँ कि स्त्री में कोई भी आकर्षक तत्व नहीं—स्त्री के पीछे मनुष्य को अपने जीवन के अधिक सच्चे और सचमुच आकर्षक ध्येयों की उपेक्षा न करनी चाहिये। मोक्ष की प्राप्ति को हमारे पूर्वज ऐसा ही एक ध्येय मानते थे; मैं भी इस चीज़ को मानता हूँ। प्रथम-मिलन में स्त्री मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करके उसे ध्येय-भ्रष्ट, लक्ष्य-च्युत कर देती है; फिर पुरुष को धीमे-धीमे उसी स्त्री के प्रति अरुचि और अन्त में जुगुप्सा पैदा हो जाती है। लेकिन इस दरम्यान पुरुष अपने ध्येय को भूल चुका होता है। फलत: मनुष्य विक्षिप्तों की तरह, मेरी तरह, दुनिया के इस जंगल में भटकता रहता है। मेरे एक गुरु भाई गाया करते थे—'अकेला हूँ, दुनिया के बियाबाँ में अकेला मैं भटकता हूँ।'—बस यही हाल होता है।'

शोभनकुमार ने दूसरा कप खाली करके तीसरा भरना शुरू किया।

'मि० गणेशलाल, पहले मैं शराब की बोतलें खाली किया करता था; अब चाय की केटलियाँ खाली करता हूँ। जैसे गुरु के आशीर्वाद से शराब की बोतल छूटी है, वैसे ही किसी दिन चाय की यह केटली भी छूट जायगी। लेकिन आपको ज़रूर यह आश्चर्य हो रहा होगा कि मांस और मदिरा की इस उपासना के बाद मैं तीसरे 'मकार' यानी मानिनी के मोह-पाश में क्यों न फँसा? मैं अपना दुर्भाग्य आपको सुनाऊँ? किसी भी सुन्दर स्त्री को देखकर मैं बड़ी आसानी से उसके सम्पर्क में आ सकता था; अब यह ज़रूरी न था कि वह सुन्दरी सदा

युवती ही हो ; क्योंकि युवतियाँ ही सदा सुन्दर होती हों, ऐसी कोई बात नहीं है ! जब परिचय बढ़ जाता और स्त्री अपनी टीमटाम एवं साज सिंगार में थोड़ी शिथिल हो जाती, तो एकाएक उससे बात-चीत करते करते कभी मेरी आँखें उसके चेहरे पर ठहर जाती और न जाने क्यों, दिल में उसके प्रति एक अरुचि-सी पैदा हो जाती। ज़्यादातर तो इस अरुचि के सूत्रपात के साथ ही मैं इससे अपना सम्बन्ध कम कर लेता। लेकिन प्रायः यह भी होता कि पहली मुलाक़ात के साथ ही सम्बन्ध सदा के लिए समाप्त हो जाता। कितना ही दमकता हुआ चेहरा क्यों न हो ; इधर अकस्मात् गरदन फेरी और उधर सारी बद-सूरती खुल गई ! लेकिन हिन्दुस्तान में मैंने ऐसी एक ही स्त्री देखी, जिसका चेहरा अत्यन्त सुगठित था ; 'प्रोफाइल' में भी वह बहुत सुन्दर दिखती थी ; लेकिन उसके समस्त चेहरे पर एक ऐसी मूर्खता-सी व्याप्त रहती कि देखते ही बरबस हँसी आ जाती थी ! और, मैं आपसे कहता हूँ कि जैसे-जैसे स्त्रियों के बारे में मेरा मन विशेष निर्मल, निष्कपट बनता गया, वैसे-वैसे तरह-तरह की स्त्रियों का निरीक्षण करने की मेरी आदत ही बनती गई। कभी-कभी मैं अनुभव करता कि मैं चोरी कर रहा हूँ ; लेकिन जो व्यापार-धन्धे के आदी हैं, वे साधारणतः इस तरह की कुशंकाओं से घबराते नहीं। मैं समझता हूँ, वकीलों का भी यही हाल होता होगा। गान्धी के अनुयायी होते हुए भी आपके अन्दर यह जो मनुष्यता पाई जाती है, उसका कारण मेरी समझ में तो यही आता है, कि आप वकील हैं और वकालत करते हैं।'

शोभनकुमार तीसरा कप भी बहुत पहले खाली कर चुके थे। अब इस उम्मीद से कि केटली के अन्दर और भी चाय होगी, उन्होंने उसे प्याले में उँड़ेला, मगर दो-चार बूँद पानी गिरके रह गया। जब ढक्कन खोला, तो प्याले में चाय की कुछ पत्तियाँ आ गिरीं। यह देख शोभन-कुमार खिलखिलाकर हँस पड़े।

गणेशलाल को शोभनकुमार की बातों से बड़ा ही आश्चर्य हुआ। निश्चय ही शोभनकुमार एक अजीब आदमी था ! पहले तो उन्होंने सोचा ; शोभनकुमार गुण्डा है—बदमाश है ; लेकिन जो गुण्डे या बदमाश होते हैं, वे इतनी सरलता से स्त्रियों सम्बन्धी चर्चा नहीं कर सकते। गणेशलाल की जिज्ञासा और भी बलवती हो उठी। शोभनकुमार से स्त्रियों सम्बन्धी कुछ विशेष जानने की उन्हें इच्छा हुई। उन्होंने अनुभव किया कि गूढ़ रूप से इस जिज्ञासा के मूल में उनकी कामवासना ही काम कर रही है ; मगर जिन्हें अपनी वासनाओं को बनावटी तौर पर दबा देने की आदत होती है, वे अपने व्यवहार में कभी सरल नहीं बन सकते।

'शोभनभैया, आपकी ये बातें सुनकर मुझे बहुत दुःख होता है। कौन ऐसा भला आदमी या भली औरत होगी, जो यह जानते हुए भी कि स्त्रियों के प्रति आपकी ऐसी दृष्टि है, आपसे बात करना पसन्द करे ! कम से कम मैं तो नहीं करूँगा। मेरी राय में तो आपके ये विचार दुश्चरित्र स्त्रियों के सहवास के ही कुफल हैं।'— अन्तिम वाक्य कहते समय गणेशलाल अपने अन्दर थोड़े क्रोध का आविर्भाव कर सके थे।

इस पर शोभनकुमार ने अपनी हँसी रोकने का प्रयत्न किया, पर बेचारे असफल रहे। उन्होंने हँसते हँसते कहा – मि० गणेशलाल, आपका स्वभाव स्त्रियों जैसा प्रतीत होता है। जब स्त्रियाँ गुस्से में होती हैं, तो हम तुरन्त ही उनके गुस्से का कारण समझ जाते हैं। आप सीधे-सीधे अपने मन की बात क्यों नहीं कहते ? आप यही न जानना चाहते हैं कि आपके विचार में जो दृष्टि इतनी नवीन है, उसके रहते हुए भी मैं कुलीन से कुलीन स्त्रियों के सम्पर्क में कैसे आ सकता हूँ ! आप इस कला को सीखना चाहते हैं—यही बात है न ?'

शोभनकुमार बहुत हँसे—इतना कि पेट में बल पड़ गये।

उधर गणेशलाल थे कि चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं।

'अच्छा तो सुनिये। जब मैं कहता हूँ कि कोई भी स्त्री सुन्दर नहीं है, तो मेरा आशय यह रहता है कि स्त्री का मूल्य उसकी सुन्दरता से ठहराना ग़लत है। पुरुष के बदसूरत होते हुए भी हम उसका सम्मान कर सकते हैं; करते हैं। गुस्ताख़ी माफ़ हो; मैं मानता हूँ कि आप अपने गाँधी के अनेक गुणों में उनकी सुन्दरता को भी शामिल न करते होंगे; फिर भी उनका सम्मान तो आप करते ही हैं। इसी तरह बिना यह सोचे कि स्त्री सुन्दर है या असुन्दर, क्या हम उसके सम्पर्क में नहीं आ सकते---मेल-जोल नहीं बढ़ा सकते? मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरे परिचय में आई हुई किसी भी स्त्री का उसकी अन्य योग्यताओं के अनुसार सम्मान करने में मैंने कभी भूल नहीं की। फिर भी दुःख इस बात का है कि स्त्रियाँ अपने शारीरिक सौन्दर्य को ही अपने मूल्य का माप समझती हैं; नहीं तो साज-सिंगार के पीछे वे इतनी पागल क्यों रहतीं; अच्छी दिखने के इतने व्यर्थ प्रयत्न क्यों करतीं? आपका गुस्सा देखकर मुझे यह कहना पड़ता है कि मैंने कई सभ्य कहनेवाली स्त्रियों को असभ्यता की हद तक पहुँचने से रोककर उन्हें उनकी आत्मा का स्मरण कराया है। शायद आपका यह ख़याल हो सकता है कि पुरुष ही असभ्य होते हैं और स्त्रियों को पतन के फन्दे में फँसाते हैं। लेकिन मुझ जैसे लोग ही इस बात को जानते हैं कि स्त्रियाँ स्वयं कितना फँसना चाहती हैं। मगर आपको तो मुझ से— क्या कहा था? हाँ, 'सौन्दर्य मीमांसा' समझनी है! तो देखिये, सौन्दर्य कोई जड़ चीज़ नहीं। वह एक क्रिया है, जो सतत गतिमान् रहती है। किसी खास स्त्री के सुगठित अवयवों और सुन्दर मुखाकृति को—स्त्री के रूप में रङ्ग का विशेष स्थान न होना चाहिये—देखकर ही हम उसे सुन्दर नहीं कह सकते। स्त्री की सुन्दरता के लिए यह सब पर्याप्त नहीं। किसी सुन्दर मूर्ति को सुन्दर समझने के बाद हम उसे सदा सुन्दर ही

कहते हैं। यदि आपको सुन्दर से सुन्दर मूर्तियाँ देखनी हों, तो आप पेरिस का म्यूजियम देखिये। लेकिन स्त्री कोई जड़ पाषाण मूर्ति नहीं। उसका मुँह उसकी आत्मा का द्योतक है। स्त्रियों को बचपन ही से शिष्ट और गम्भीर रहने का सबक सिखाया जाता है, इसलिए हरएक स्त्री प्रथम दर्शन में आकर्षक प्रतीत होती है। लेकिन जैसे जैसे आप उसे अधिक शुद्ध और निष्कपट भाव से देखते हैं, वैसे-वैसे स्त्री की आत्मा के परिवर्तनों को उसके हृदय के उतार-चढ़ाव को, आप उसके मुँह पर चित्रपट की तरह देखने लगते हैं।

'और, यही समय होता है, जब किसी स्त्री का सुन्दर से सुन्दर मुँह भी, न जाने क्यों, मन के अन्दर ऐसा जुगुप्सा घृणा—पैदा करता है कि जी वहाँ से भाग जाने को चाहता है। लेकिन मैं इसके ठीक उलटी एक बात आपसे कहा चाहता हूँ। फ्रेंच भाषा का उत्तम उच्चारण सीखने के लिए स्त्री शिक्षिकाएँ ही अधिक से अधिक उपयोगी होती हैं। मैं अपने लिए प्रायः ऐसी ही शिक्षिका पसन्द करता, जिसे मेरे सभी मित्र कुरूप या सौन्दर्य हीन समझते। आपको शायद विश्वास न हो; मगर यक़ीन मानिये कि जब वह मुझे फ्रेंच सिखाती, तो उसके पैर छू लेने का दिल हो जाता! और, जब हम किसी सामयिक विषय की चर्चा करते, तो उसका मुँह बुद्धि के प्रसन्न तेज से ऐसा दमक उठता कि वह मुझे सचमुच ही सुन्दरी प्रतीत होने लगती। लेकिन अफ़सोस इस बात का है कि ज़्यादातर स्त्रियाँ शरीर-प्रधान जीवन बिताती हैं; परिणाम इसका यह होता है कि जो थोड़ी बुद्धि-शाली और दर असल जीवित आत्मावाली स्त्रियाँ हैं, वे भी इसी प्रवाह में बह चलती हैं; बेचारी दर्पण में अपने सौन्दर्यहीन अनाकर्षक मुँह को देख-देख लम्बी उसाँसें लेती हैं और पुरुषों के साथ के अपने व्यवहार में भी वे इसे भूल नहीं पातीं। मुझ जैसे स्त्री-पूजक के सामने भी वे अपनी इस त्रुटि को भूल नहीं सकतीं।'

गणेशलाल को यह सब ज़रा भी समझ में न आया। उन्होंने उत्तेजित होकर कहा मालूम होता है, आपका दिमाग़ ठिकाने नहीं है। अन्यथा आप अपने को स्त्री-पूजक कभी न मानते। अभी-अभी आप यह कह चुके हैं कि आप हमारे उन पुरखाओं के साथ सहमत हैं, जो स्त्रियों को तिरस्करणीय – हेय—समझते थे!

इसी समय सुलेखा और सुमित्रा दोनो चबूतरे पर दिखाई दीं। शोभनकुमार ने खड़े होकर कहा—आइये, आइये! सुमित्रा बहन! सुलेखा, इन्हें आये तो देर न हुई, और यह जाने भी लगीं? क्या बात है! मालूम होता है, मेरे स्त्री-विषयक विचारों को तुमने अन्दर बैठकर सुना है?

सुलेखा ने कहा—तुम्हारे स्त्री-विषयक विचारों की हमारी नज़र में कोई क़ीमत नहीं। हाँ, सुमित्रा बहन अभी हमारे गाँव से आई हैं, और यहाँ एक दिन भी रहने से इनकार करती हैं। मालूम होता है, इन्होंने तुम्हारे स्त्री-विषयक विचारों को, जिन्हें तुम अभी पुकार-पुकारकर घोषित कर रहे थे, ध्यान-पूर्वक सुना है।

सुमित्रा ने कहा—आखिर आपने अपने को स्त्री-पूजक घोषित कर ही दिया है न!—लेकिन इस वाक्य को समाप्त करने के पहले ही सुमित्रा के मुँह पर उदासी-सी छा गई। सुलेखा और गणेशलाल ने इस परिवर्तन को समझ लिया।

'हाँ, मैं स्त्री-पूजक हूँ। यद्यपि मैं मानता हूँ कि इस दुनिया में एक पूजा को दूसरी पूजा में दख़ल नहीं देना चाहिये। लेकिन आप चबूतरे पर ही क्यों खड़ी हैं? यहाँ कुर्सियाँ खाली हैं। कहीं मुझ जैसे स्त्री-द्वेषी की बराबरी से न बैठने का निश्चय तो आपने नहीं कर डाला! लेकिन हमारे मि० गणेशलाल तो सच्चे स्त्री-पूजक हैं। आपका यह ख़याल है कि चूँकि स्त्रियाँ, स्त्रियाँ हैं, इसलिए वे निर्दोष हैं—उनमें दोष हो ही नहीं सकते; हों भी, तो देखना पाप है।'

'वाह, मैंने यह बात कभी नहीं कही। मेरी शिकायत तो आपसे यह है कि स्त्रियों को आप जिस दृष्टि से देखते हैं, वह निन्दनीय है।'—गणेशलाल ने अपनी दृष्टि फेरते हुए कहा।

'मैं कहती हूँ, भगवान् के लिए अपनी इस चर्चा को अब समाप्त कीजिये। आपकी राय जानने के लिए कोई स्त्री उतावली नहीं है। आप लोग नाहक थूक उड़ा रहे हैं। आपकी बातों से साफ़ जाहिर होता है कि आप किसी-न-किसी तरह स्त्रियों के कृपा-पात्र बनना चाहते हैं।'—सुलेखा ने तिरस्कार-युक्त आवेश में कहा।

'हाँ, मि० गणेशलाल जैसे स्त्री-भक्तों का यह हेतु हो सकता है! लेकिन सुलेखा, तुम क्यों नाक-भौं सिकोड़ रही हो? अब अगर मैं यह कह दूँ कि सुलेखा-जैसी सुन्दरी भी जब नाक-भौं सिकोड़ती है, तो सुन्दर लगती है। आज तो शायद मि० गणेशलाल कह उठेंगे कि मेरी दृष्टि ही दूषित है!'—शोभनकुमार ने गंभीर होकर बोलने की चेष्टा की, जिससे सब खिलखिलाकर हँस पड़े।

सुलेखा और सुमित्रा दोनो आकर कुर्सियों पर बैठ गईं।

शोभनकुमार ने पूछा—कहिये, सुमित्रा बहन, क्या आपको हमारा आतिथ्य रुचिकर नहीं होता? आप अकेली आई हैं, या पिताजी साथ में हैं?

'जी नहीं मैं अकेली आई हूँ। पिताजी जिन गुरु के शिष्य और उपासक हैं, उन्हीं को आपने भी अपना गुरु बनाया है न? कहाँ वह प्रचण्ड नास्तिकता, और कहाँ यह अनन्त आस्तिकता! दोनो का मेल कैसा?—सुमित्रा ने, जिसे रुलाई-सी आ रही थी, बड़े यत्न के साथ अपने को सँभालते हुए कहा।

इसके उत्तर में शोभनकुमार अपने सदा के ढंग से सहज हँस दिये।

गणेशलाल ने सुलेखा से कहा—सुलेखा बहन, आपके भैया को

'गुरुडम' की यह बीमारी कैसे लग गई ? सब दम्भ है—पाखण्ड है !

शोभनकुमार ने कहा—हँ...मालूम होता है, अकेले आपके गांधी ही पाखण्ड से बचे हैं। माफ कीजिये; मैं साफ़ देख रहा हूँ कि गांधी के अनुयायी होते हुए भी आप लोग कितने असहिष्णु हैं ?—फिर सुमित्रा बहन की ओर मुँह करके बोले—सुमित्रा बहन, अबकी आप बहुत दिनों में आईं ! कहिये, कैसे आईं ?

सुलेखा ने कहा—यह तुम्हारे गुरुदेव से मिलने आई हैं। हालाँकि किसी के गुरु में इन्हें श्रद्धा नहीं। फिर भी पिताजी के आग्रह से उनके दर्शनों को आ गई हैं।

शोभनकुमार ने उत्सुकता से कहा तो फिर आप यहीं क्यों नहीं रहतीं ? सच्चिदानंद प्रभु यहीं आनेवाले हैं। उनके सान्निध्य का लाभ उठाने के लिए ही तो मैंने इस निर्जन-से एकान्त स्थान में यह मकान बनवाया है। एक बार इनसे परिचित हो जाने पर अवश्य आप उनके महात्मापन को समझ सकेंगी। उनकी कृपा से अनेक संतप्त आत्माओं को शान्ति प्राप्त हुई है। केवल बहन सुलेखा ही ऐसी हैं जो अपने लिए किसी महात्मा की ज़रूरत नहीं समझतीं।

सुलेखा ने कठोरता-पूर्वक कहा—मेरी आत्मा तो वैसे ही शान्त है। मुझे किसी महात्मा की ज़रूरत नहीं। मैं तुम्हारी तरह फिलसूफ नहीं हूँ, जो बैठी डींगें हाँका करूँ और कहूँ कि पुरुष कब सुन्दर दिखाई देता है, और कब असुन्दर !

शोभनकुमार का जी छोटा हो गया—चेहरा उतर गया। उन्होंने कहा—तो तुमने क्यों हमारी बात को छिपके सुना ?

शोभनकुमार ने हँसने यत्न किया, लेकिन हँसा नहीं गया। उन्होंने अनुभव किया कि बहन को सचमुच ही बुरा लगा है। बस, उनकी हँसी का द्वार बन्द हो गया। बहन ने जो चोट की थी, वह उनको कसकने लगी।

बहन की बातों से उनके मन में अपनी उक्त स्थापनाओं के बीच एक अजीब-सा सम्बन्ध स्फुरित होने लगा। उनकी पहली स्थापना यह थी कि स्त्री के जीवित संग और स्पर्श से मुक्त रहकर भी वह अपने को अशान्त पाते थे ; दूसरे वह स्त्री के सौन्दर्य से आकर्षित होते थे ; किन्तु उसमें तनिक-सा भी विकार पाकर उधर से मुँह फेर लेते थे ; मन उनका जुगुप्सा से भर जाता था ; तीसरे, निर्विकार भाव से वह स्त्री के सौन्दर्य को देख सकते थे। अब स्त्री-सौन्दर्य की इस दृष्टि और अपने मन की अशान्ति के बीच उन्हें अज्ञात रूप से किसी सम्बन्ध की प्रतीति-सी होने लगी।

भाई को उदास देखकर बहन भी अनुताप से भर उठी। सुमित्रा तो सर उठाकर देखती तक न थी। और गणेशलाल थे, कि जड़वत् यह सब कुछ देख रहे थे।

सुलेखा ने बात बदलते हुए कहा—भैया, सुमित्रा बहन को हमारे यहाँ रहने के लिए राज़ी करो न ? घर होते, यह धर्मशाला में कैसे रह सकती हैं !

सुमित्रा ने अनिच्छा-सी जताते हुए कहा—लेकिन धर्मशाला भी तो तुम्हारे भाई की ही बनवाई है न ? भोजन का प्रबन्ध भी तुम्हारा ही है। इसलिए वहाँ रहकर भी तो मैं तुम्हारे ही घर में रहूँगी। गुरु-देव का स्थान वहाँ से नज़दीक पड़ता है, और पिताजी का पत्र उन्हें एकान्त में देना है, सो दिया जा सकता है।

शोभनकुमार ने अपने को तनिक सँभालते हुए कहा—मैं समझता हूँ, इसकी ज़रूरत नहीं है। गुरुदेव आज रात यहीं पधारनेवाले हैं। सुलेखा बहन, इनके लिए वह स्थान साफ़ करवा लिया है न ? उस लिपी-पुती मिट्टी की कुटिया में ही उनका निवास रहेगा।

सुलेखा ने हँसते-हँसते कहा—जब तुम्हारे गुरुदेव पधारनेवाले हैं, तो मैं प्रबन्ध में कोई त्रुटि कैसे रख सकती हूँ ? सब कुछ तैयार है।

शोभनकुमार ने कहा - मि० गणेशलाल, आप तो यहीं रहियेगा न ! गुरुदेव से कुछ पूछना चाहें, पूछियेगा ।

मि० गणेशलाल हँसे ! उन्होंने कहा—आज अदालत की छुट्टी थी, इसलिए नर्मदा-किनारे सैर को निकल आया था । शुक्लतीर्थ तक आया ही था ; मैंने सोचा आपका निमन्त्रण मिला है चलूँ, आपसे भी मिलता चलूँ । मैं गुरुदेव के दर्शनों की इच्छा से तो आया नहीं हूँ । फिर मुवक्किल की मोटर लेकर आया हूँ, इसलिए जल्दी ही लौट जाना होगा ।

'अगर आप गुरुदेव से मिलना नहीं चाहते, तो कोई ज़बर्दस्ती न करेगा ! मैं खुद कभी गुरुदेव के पास नहीं बैठती । लेकिन आपका इस तरह आकर लौट जाना, अच्छा नहीं मालूम होता । शोफ़र से कह दीजिये—चला जायगा । सुबह अपनी मोटर में हम आपको भड़ौंच पहुँचा देंगे ।'—सुलेखा ने गृहिणी के-से आग्रह के साथ कहा । गणेशलाल इनकार न कर सके । उन्होंने शोफर को लौटा दिया ।

(२)

वर्षा ऋतु की चाँदनी रातों ने अब तक कवियों का ध्यान अपनी ओर उतना आकर्षित नहीं किया, जितना करना चाहिये था । साधारणतः उन दिनों आसमान घनघोर बादलों से घिरा रहता है, इसलिए अँधेरे-उजेले दोनो पखवारों को लोग सरीखा ही समझते हैं ; और चौमासे की चाँदनी रात के विशिष्ट सौन्दर्य को निहारने का कभी खयाल तक नहीं करते । लेकिन किसी भी कारण से क्यों न हो, जिन्हें रातें पहाड़-सी बीतती हैं, नींद नहीं आती, आँखें खुली ही रहती हैं अथवा जिनको प्रियतमा के मुखचन्द्र का दर्शन भी प्राप्य नहीं है, वे जब कभी अपना बिछौना अटारी या छज्जे में, अपने दूर और पास दृष्टि दौड़ाते हैं, तो एक अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन से छक जाते हैं !

शोभनकुमार अटारी पर टहल रहे थे । हलकी फुहारें बरस रही

थीं। चन्द्रबिम्ब मेघों से मुक्त हो चुका था; और मेघ उसके आस-पास इस तरह सज गये थे, मानो चन्द्र के प्रकाश में अपने विविध रूपों का प्रदर्शन किया चाहते हों। मदमाती नर्मदा वेग से बह रही थी। एक ओर जल बिन्दुओं से सुशोभित घास-पात पर चन्द्र की किरणें अपना क्रीड़ा-जाल बिछाये थीं; और दूसरी ओर वहां नर्मदा के विशाल वक्षस्थल पर अपना उन्मत्तकारी नृत्य कर रही थीं।

गुरुदेव ने शोभनकुमार को आदेश दिया था कि वह अपनी चित्त-नदी के प्रवाह का निरीक्षण करें। उन्होंने सूचित किया था कि वह 'उभयतो-वाहिनी' होती है; कल्याण की दिशा में भी बहती है और पाप के पथ में भी प्रवाहित होती है। गुरुदेव का आदेश था कि शोभनकुमार अपनी चित्त-नदी की दिशा को स्थिर करें—पहचानें।

शोभनकुमार की दृष्टि आकाश पर थी। चन्द्र के प्रकाश में बादलों का वह रूप दिन की अपेक्षा कुछ निराला ही दिखाई पड़ता था। कोई-कोई बादल तो अपने आकार-प्रकार के कारण अतिशय भयकर दीखते थे। शोभनकुमार को वे ऐसे प्रतीत हुए, मानो हृदय की गुहा से निकले हुए भूत हों। फिर क्षण-भर को उनकी दृष्टि नर्मदा के प्रवाह पर जाकर ठहरी—इस प्रवाह ने किसका 'कल्याण' किया होगा और किसका 'अकल्याण'! शोभनकुमार को अपनी चित्त नदी भी कुछ-कुछ नर्मदा-सी ही अगम्य प्रतीत हुई।

रात सब गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुए। सुमित्रा के पिता का पत्र वह एकान्त में पढ़ चुके थे। शुरू में तो मि० गणेशलाल का इरादा गुरुदेव के दर्शन का न था; लेकिन कुछ तो इस 'पाखण्ड' का प्रत्यक्ष अनुभव करने की इच्छा थी; और कुछ यह विचार था कि अगर गुरुदेव सचमुच ही कोई चिन्ताशील व्यक्ति सिद्ध हुए, तो वह उनके समक्ष शोभनकुमार की सारी 'सौंदर्य-मीमांसा' उपस्थित करेंगे। बस, इन दो कारणों से उन्होंने गुरुदेव के दर्शन का निश्चय कर लिया।

सुलेखा ने गुरुदेव की सारी सुख सुविधा का प्रबन्ध कर दिया। फिर उन्हें प्रणाम करके वह खिड़की के पास आ बैठी और नर्मदा की शोभा निरखने लगी। पत्र देकर, डबडबाई हुई आँखें लिये सुमित्रा भी सुलेखा के पास आ बैठी। पत्र में क्या लिखा था, सुमित्रा नहीं जानती थी। लेकिन पत्र पढ़ते-पढ़ते गुरुदेव की आँखें जिस तरह चमक उठीं, उससे उसे थोड़ा संकेत ज़रूर मिल गया। उसमें एक प्रकार का अमर्ष था। गुरुदेव ने पत्र पढ़कर सुमित्रा से एक सवाल पूछा था—क्यों सुमित्रा, आजन्म कुँआरी ही रहना चाहती हो न? सुमित्रा कोई उत्तर न दे सकी। आँसू भरी आँखें लेकर वह सुलेखा के पास चली आई। सुलेखा इन आँसुओं का अर्थ समझती थी।

सुमित्रा के चले आने पर शोभनकुमार और गणेशलाल गुरुदेव के दर्शनों को गये थे। गणेशलाल के दिल पर गुरु के प्रबल योगाभ्यास की अच्छी छाप पड़ी थी। वह अब तक शोभनकुमार की 'सौन्दर्य-मीमांसा' का उनके 'स्त्री'-तिरस्कार से कोई मेल न मिला सके थे। आरम्भ में शोभनकुमार के साथ की बातचीत में जिस मूर्खता का परिचय वह दे चुके थे; वह भी उन्हें खटक रहा था। बैर भाँजने की इच्छा प्रबल हो रही थी। फलतः मौक़ा मिलते ही इन्होंने गुरुदेव के सामने शोभनकुमार की सारी 'सौन्दर्य-मीमांसा' पेश कर दी। एक तरह इससे शोभनकुमार को सन्तोष ही हुआ। क्योंकि वह स्वयं कभी इस विषय को गुरुदेव के सामने इस तरह न रख पाते। फिर भी उनके सम्मुख अपने आपको व्यक्त तो वह करना चाहते ही थे। सारी चर्चा सुनकर गुरुदेव को बहुत हँसी आई। गणेशलाल ने गुरु-शिष्य के हास्य में एक प्रकार की समानता देखी। जब गणेशलाल सोने चले गये, तो गुरुदेव ने शोभनकुमार को आत्मनिरीक्षण का आदेश दिया और कहा—अगर मृतपत्नी की अनुमति मिलती हो, तो तुम्हें अपने पुनर्विवाह पर विचार करना चाहिये।

जिस समय शोभनकुमार अकेले अटारी में टहल रहे थे, सुलेखा सुमित्रा को छाती से चिपटाये ढाढ़स बँधा रही थी। उसने सुमित्रा को समझाते हुए कहा—भैया के बार-बार प्रस्ताव करने पर भी मुझे अपना स्वातंत्र्य खो डालने की कभी इच्छा ही न हुई ; यह भी कहा, कि भैया को स्त्रियों से कितनी-घृणा है ! साथ ही उसने अपने भैया के पत्नीव्रत की और प्रथम पत्नी के प्रति वफ़ादार रहने की प्रशंसा भी की। सुलेखा ने भाई की अशान्ति का उनकी 'सौन्दर्य मीमांसा' से मेल तो मिला दिया था ; किन्तु उसकी असलियत का बोध उसे भी न था। सुलेखा जानती थी कि सुमित्रा के हृदय की व्यथा असह्य थी। उसने अपने जीवन के अट्ठाईस वर्ष कौमारावस्था में बिता दिये थे। सोलह वर्ष की उम्र में जिस पुरुष को अपना जीवन-सङ्गी बनाने की एक बार उसने कामना की थी, उसीसे अब फिर ब्याह करने की न तो कोई बात उसने अब तक कही थी - और शायद वह उस दिशा में कभी कुछ सोचती भी न थी। सुलेखा को अपने हँसमुख भाई के असह्य दुःख की भी कल्पना थी। लेकिन वह यह भी जानती थी कि भाई का सुमित्रा के प्रति कोई ख़ास झुकाव नहीं है। सुलेखा अपने भाई के दुःख को मृत-पत्नी के वियोग का परिणाम समझती थी ; यद्यपि वह खुद भाई के पुनर्विवाह का प्रयत्न कर चुकी थी। जब उसे अपने प्रयत्नों में सफलता न हुई, तो एक बार एक सजातीय स्त्री से उसने कहा था—'अब भैया का ब्याह तभी होगा जब भाभी फिर से उनके लिए जन्म लेंगी। उसे अपने भैया, सती के लिए विकल भगवान् शंकर-से लगते थे।

सुलेखा को अच्छी तरह स्मरण था कि सुमित्रा के हृदय में अपने भाई के प्रति ममता उत्पन्न करने की ज़िम्मेदारी उसी की है।

इस समय सारा घर शान्त था। सिर्फ़ एक कमरे से, जहाँ मुलाकात के लिए आये हुए व्यापारी मित्र सो रहे थे, नाक बजने की आवाज़ें आ रही थीं।

शोभनकुमार गुरुदेव के कहे हुए 'चित्त-नदी नाम उभयतोवाहिनी' वाक्य का क्षण क्षण में रटन करते हुए, अपनी चित्त नदी के वेग को सूचित-से करते, अटारी में टहल रहे थे।

चन्द्रमा को बादल के एक टुकड़े ने आकर घेर लिया। तटवर्ती पानी में किसी के गिरने की आवाज़ आई। भीगे हुए कगार से छूटकर एक ढेला पानी में गिर पड़ा था। शोभनकुमार एक खम्भे से टिककर खड़े रह गये। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उनकी अपनी चित्त-नदी कल्याण-वाहिनी है या पाप-वाहिनी। आख़िर गुरुदेव ने फिर से ब्याह करने की सूचना क्यों की ? उन्हें पुत्र की अभिलाषा न थी—बल्कि वह तो चाहते थे कि उनके जैसों का वंश न चले। वह सोचने लगे, क्या मैं कामवेदना को नष्ट कर सका हूँ ? उन्हें मृत-पत्नी का दर्शन हो आया। चित्त ने एक प्रकार की शान्ति का अनुभव किया। एकाएक बहन की बात याद आ गई। वह प्रायः मज़ाक में कहा करती थी—अगर भाभी लौट आयें, तो तुम औरतों को गाली देना छोड़ दो ! लेकिन बहन कुछ समझती न थी। जब भाभी के साथ ब्याह हुआ था, भाई की विवेक बुद्धि जाग्रत न थी। भाभी की मृत्यु के पश्चात् भाई ने जीवन में स्त्री का महत्त्व अनुभव किया था। जिस प्रकार और-और सौन्दर्य विनोद के साधन हैं, वैसे ही स्त्री भी एक साधन थी। सौन्दर्य का उपभोग सूक्ष्म होता है। अतएव जिस प्रकार संसार के दूसरे सौन्दर्यों को यथास्थान रहने देकर उनका उपभोग किया जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों को भी अपने-अपने स्थान में रहने देकर उनके सौन्दर्य का आनन्द उठाना चाहिये। लेकिन उनके सामने सबसे बड़ी पहेली तो यह थी कि देश-विदेश की सभी सुन्दरियों से कुछ ही काल में, उन्हें वैसी अरुचि क्यों हो जाती थी ? सुन्दर मूर्त्ति सदा ही सुन्दर प्रतीत होगी ; सुन्दर चित्र सदैव सुन्दर दीखता ; स्विट्ज़रलैंड के सुन्दर दृश्य आज भी सुन्दर मालूम होते ; नर्मदा का तट सदैव

ही उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता रहता— केवल स्त्री-सौन्दर्य ही ऐसा था, जो क्षणिक आह्लाद के बाद जुगुप्सा में बदल जाता था। एक बार उन्होंने अपने मन की अस्वस्था का निदान यूरोप के मनोवैज्ञानिकों से—मन के डॉक्टरों से—भी करवाया था ; परन्तु उनका उत्तर सुनकर उन्हें उनके प्रति विरक्ति-सी हो आई थी। लेकिन गुरुदेव क्यों फिर से ब्याह करने को कह रहे हैं ? मनोवैज्ञानिकों ने उन्हें कामवासना दीप्त करने की सलाह दी थी। मगर तब चित्त-नदी के आलोड़ित जल में डुबकी लगाने पर भी, कभी किसी स्त्री का काम-स्पर्श करने का दिल न हुआ था। आख़िर परमात्मा के पथ पर ले जाने के बदले आज गुरुदेव उन्हें संसार-कीट बनने की सलाह क्यों दे रहे हैं ? उन्हें गुरु से अश्रद्धा-सी होने लगी। लेकिन गुरुदेव की मुखाकृति का स्मरण होते ही वह अश्रद्धा टल गई। फिर मृत-पत्नी का स्मरण हुआ। उसके अनेक दोषों को याद करने का यत्न किया...आख़िर, वह मर क्यों गई !—कहते-कहते उनकी मुट्ठियाँ बँध गईं और वे अटारी के खम्भे पर टूट पड़ीं। इस आघात ने मानो उन्हें योग निद्रा से जगा दिया, और वह फिर टहलने लगे। आकाश की ओर देखा। बादल कुछ देर तो क़ैदी की तरह चन्द्रमा को अपने सींखचों (जाल) के पास आने देते और जैसे ही वह छूटकना चाहता, धक्का मारकर उसे अन्दर ढकेल देते। शोभनकुमार क्षण भर इस दृश्य को देखा किये। अन्तर्मुख दृष्टि बहिर्मुख बनी। लेकिन आँखें आकाश पर टिककर भी हृदय दर्शन में डूब गईं—मेरी आत्मा इस चन्द्र की तरह मेघों से मुक्त होना चाहती है ; लेकिन मुक्त हो नहीं सकती। गुरुदेव से जाकर कहूँगा, मैं आपका क़ैदी हूँ ; मेरी मुक्ति आपके हाथ में है ! शोभनकुमार अटारी से नीचे उतर आये। रास्ता बहन के कमरे से होकर जाता था। सुमित्रा और सुलेखा दोनों एक-दूसरे को अपनी छाती से लगाकर सो गई थीं। सुमित्रा नींद में सिसकियाँ ले रही थी ; सुलेखा इसी अवस्था में उसकी

पीठ सहलाती जाती थी।

(३)

घर के सामनेवाले आँगन में शोभनकुमार अपने व्यापारी मित्रों के साथ बैठे चाय पी रहे थे।

'भैया, आपने बहुत अच्छा निश्चय किया। यों अकेला कोई कब तक रह सकता है? सुमित्रा बहन का कौमार्य आज सफल हुआ।'—एक व्यापारी मित्र ने कहा।

'बिना धूमधाम के अकेले में ब्याह करने का आपका निश्चय बहुत सुन्दर है।'—एक दूसरे तनिक सुधारक विचार के व्यापारी मित्र ने कहा। उनकी सुधारप्रियता और नवीनता का मुख्य चिह्न यह था कि वह 'क्लीन शेव्ड' रहते थे। मूछों से उन्हें नफ़रत थी!

शोभनकुमार अपनी सहज प्रसन्नता के साथ चाय के प्याले पर प्याले खाली कर रहे थे।

सुलेखा ने सुमित्रा को अपने हाथों फूलों से सजाया और चाय की दूसरी केटली देकर भाई के पास भेजा। फिर स्वयं उसके पीछे हँसती-हँसती आई। गणेशलाल की दृष्टि सुलेखा के हँसते हुए चेहरे पर थी; और वह उससे कहीं एकान्त में मिलना चाहते थे।

सुमित्रा को देखते ही शोभनकुमार कह उठे—अरे सुमित्रा तो फूलों से ऐसी सजी है, मानो कोई बलिकन्या हो!

शोभनकुमार के इस कथन ने सब को चकित कर दिया। व्यापारी मित्रों में से कुछ ने समझा कि सेठ अपनी सदा की आदत के अनुसार सब को हँसाने के लिए ऐसा कह रहे हैं; और वे खुद हँसने लगे।

सुमित्रा जहाँ की तहाँ ठिठकी रह गई, फूल सब नोच-फेंक डाले और केटली लिये निधड़क शोभनकुमार के पास की कुर्सी पर जा बैठी। सुलेखा को प्रथम तो चिढ़-सी छूटी, किन्तु बाद में उसने भी अपने-आप को सँभाल लिया और वह आकर मि० गणेशलाल के पास बैठ गई।

गणेशलाल के मन की हुई। सुलेखा को समीप बैठे देख उन्होंने कहा सुलेखा, ज़रा एकान्त में चलोगी? मुझे भैया के बारे में कुछ कहना है।

'अच्छी बात है, चलिये।—सुलेखा खड़ी हो गई और जाने लगी। गणेशलाल भी उसके पीछे-पीछे चले।

चाय का प्रोग्राम ख़त्म हुआ। व्यापारी मित्र आस-पास के दर्शनीय स्थानों को, जो देखे नहीं थे, देखने चले गये।

'सुमित्रा।'—शोभनकुमार ने कहा।

'जी।' सुमित्रा ने जवाब दिया।

'मुझ सरीखे आदमी को अपना जीवन-संगी बनाकर तुम किस सुख की, किस शान्ति की, आशा रखती हो! गुरुदेव कहते हैं, इस विवाह से हम दोनो का जीवन स्वस्थ और शान्त बनेगा। लेकिन मेरी अक़्ल काम नहीं कर रही है। गुरुदेव का आदेश पाकर ही मैंने यह स्वीकृति दी है।'—शोभनकुमार ने कहा।

'मुझे तो इससे शान्ति मिली है। ऐसा मालूम होता है, मानो एक बोझ उतर गया—एक बादल खिसक गया। यद्यपि मैं सुन्दरी नहीं हूँ, तथापि मुझ से आपको अरुचि न होगी।'—सुमित्रा ने स्वस्थ चित्त से कहा।

शोभनकुमार चुप रहे।

मि० गणेशलाल मुँह फुलाये बाहर आये। उनके गाल पर थोड़ी धूल लगी थी।

शोभनकुमार उनकी ओर देखने लगे।

'शोभनकुमार, मैं आपसे मिलने आया था, आपकी बहन की जूतियाँ खाने नहीं? मैं पुनर्विवाह को मानता हूँ, आप भी मानते हैं, आपकी बहन भी मानती हैं। अगर मैंने प्रस्ताव ही किया, तो कौन अनुचित किया, जो जूतियों से जवाब दिया गया!'—पराये घर में

जितना शोर हुआ जा सकता था, होकर गणेशलाल ने कहा।

सुलेखा भी बाहर आई और बोली—माफ़ कीजिये, मि० गणेशलाल! आप झूठ कह रहे हैं। मेरी जूती आपके प्रस्ताव के जवाब में नहीं उठी। बल्कि आप भाई के बारे में कुछ कहने के बहाने मुझे एकान्त में ले गये—वहाँ आपने कुछ असङ्गत-सी बातें कीं और फिर सगाई का प्रस्ताव किया। जूती उसी का जवाब था। आपने सीधे तौर पर पूछा होता, तो मैं सीधा इनकार करती।

शोभनकुमार ने गणेशलाल को शान्त करने की बहुत कोशिश की मगर सब बेकार रही। इन्होंने पूछा—भई, मेरे ब्याह में तो उपस्थित रहोगे न?

गणेशलाल साफ़ इनकार कर गये।

शोभनकुमार ने फिर कहा—अच्छा, मेरी अरथी उठाने को तो हाज़िर रहोगे न?

गणेशलाल शोभनकुमार के मुँह की ओर देखने लगे। किसी अज्ञात आकर्षणवश उन्होंने रहना स्वीकार कर लिया। यह सब क्या है? कैसा आकर्षण है? कुछ समझ में नहीं आया।

(४)

शाम का वक्त था। शोभनकुमार इस पार नर्मदा-तट पर टहल रहे थे।

'ब्याह कर लूँ! क्यों न करूँ?'—मन के तर्क चल रहे थे।

'सुलेखा विधवा है। स्वस्थ और शान्त है। वह किसी से ब्याह करना नहीं चाहती। मैं भी नहीं चाहता। फिर मैं ही क्यों इतना अशान्त हूँ?'—विचार-भँवर में फँसे हुए शोभनकुमार, नर्मदा के भँवरों को देखते हुए चहल-क़दमी कर रहे थे।

सामने एक ऊँचा कगार आ गया। शोभन यत्नपूर्वक उस पर चढ़ गये। उस पार कगार पर उनका बँगला था। बीच में नर्मदा थी।

शोभनकुमार की दृष्टि पश्चिम में कहीं अटकी थी। वह सोच रहे थे—'सुमित्रा को शान्ति होगी। लेकिन मेरी क्या हालत होगी? गुरुदेव ने कैसे यह सोचा कि सुमित्रा से शादी करके मैं भी शान्त हो सकूँगा। गुरुदेव का ख़याल है कि मेरी अशान्ति का मूल कारण कामवासना—अतृप्त कामवासना—है; लेकिन यह सच है? फिर गुरुदेव ने कैसे यह मान लिया कि मेरी कामवासना जिस किसी भी स्त्री के सङ्ग से तृप्त हो रहेगी, और मैं शान्त हो सकूँगा?...उस दिन मौत ने सुलोचना की बात भी पूरी न होने दी। मेरी सारी शिकायत इस मौत से है! मुझे सुलोचना की ज़रूरत है! क्या वैसा विश्राम दूसरी किसी स्त्री के साथ सम्भव है?...बेचारी सुमित्रा! अरे, मुझे तो सुलोचना चाहिये...। शोभनकुमार ने आवेश-पूर्वक कहा—मौत! मृत्यु! तू सुलोचना को नहीं लौटायेगी?—नहीं लौटायेगी?

कगार पर खड़े-खड़े शोभनकुमार कुछ देर शून्य दृष्टि से अस्त होते हुए सूर्य के तेज से सुलगती हुई चिता-से प्रतीत होनेवाले बादलों को देखा किये! फिर धीमी आवाज़ में बोले—सुलोचना जल रही है। और फिर इस तरह झुके मानो उसके भाल को चूमने जा रहे हों। इसके बाद वातावरण उनके विलक्षण अट्टहास से गूँज उठा।

मौत से जूझकर कौन जीता है? या तो आदमी पागल हो जाता है, या अधीन बन जाता है!